अर्थात् कवि अपनी कल्पना के जादू के बल से अनस्तित्व मे अस्तित्व का सृजन करने में समर्थ होता है। प्राणि-जगत् को निष्प्राणवत् चित्रित और निष्प्राण जगत् में प्राण को संचारित करने की क्षमता रखता है। उसकी नजरों मे निर्जीव फूल सजीव-से हँसते दिखाई देते हैं; गंगा की लहरें थिरक थिरक कर नाचती हुई प्रतीत होती हैं; और यदि प्रातः क्षितिज के मुख पर हँसी की लाली दौड़ जाती है, तो सांध्य क्षितिज में क्षत-विक्षत विभाकर के क्षतज की धारा बह पड़ती है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया॥

अर्थात् चेतन-अचेतन जगत् के सम्बन्ध में कवि स्वतंत्र है और मनमाना व्यवहार करता है। अपनी विशिष्ट सृष्टि का स्रष्टा कवि स्वयं है। 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में कई ऐसे प्रसंगों और पद्यों का निर्माण किया है जिनमें कल्पना की उड़ान (flight of imagination) प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। दृष्टान्त रूप में हम षष्ठ सर्ग का वह प्रकरण ले सकते हैं जिसमें यह बतलाया गया है कि एक दिन 'नाना-चिन्ता-मलिन' राधिका अपने घर में बैठी थी। और प्रात बाली सुपवन इसी काल वातायनों से प्रविष्ट हुई। राधिका ने अपने हृदय के करुण और कोमल उद्गार सुनाते हुए उससे प्रार्थना की—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज-से नेत्र वाले
जा के आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ
जा के मेरी सब दुखकथा श्याम को तू सुना दे॥६।३३

यहाँ से लेकर सर्ग के (श्लोक ८३) अन्त तक जिन मृदुल मर्मस्पर्शी भावनाओं को शब्दमय रूप दिया गया है वे किसी भी साहित्य की अमर संपत्ति हो सकती हैं। इस छोटे-से प्रसंग को पढ़ कर बरबस कालिदास का 'मेघदूत' याद आने लगता है। जिस समय राधा पवन से कहती है कि—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन मे जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू॥
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमलपग को चूमना चाहती है॥ ६।७०

प्रेमपरायण हृदय की उत्कंठा का कितना मनोरम अभिव्यंजन हम इन पंक्तियों मे पाते हैं। संदेश का अन्तिम पद्य राधा-जैसी प्रेम पथ की श्रान्त पथिक के भावों का सुन्दर विश्लेषण है:—

पूरी होवे न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा॥
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय तल मे मै तुझी को लगा के॥६।८२

निराशा के काले तन्तुओं के बीच भी आशा की रजतरेखाएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं।

चतुर्दश सर्ग मे चन्द्रमा के वर्णन मे निम्न प्रकार की कल्पनाएँ सुन्दर बन पड़ी है —

यों थे कलाकर दिखा कहते विहारी
है स्वर्णमेरु यह मेदिनि-माधुरी का।
है कल्प-पादप अनूपमताटवी का
आनन्द-अम्बुधि-विचित्र-महा-मणी है। १४।१३३

षष्ठ सर्ग के पवन प्रसंग के समान पञ्चदश सर्ग का भी कुछ-प्रसंग कल्पना अथवा भावुकता के उन्नयन के लिये ध्यान देने योग्य

किन्तु दूसरे ही क्षण अपना मत परिवर्तित करके कहती है—

परन्तु तू तो अब लौ उड़ी नहीं
प्रिये पिकी ! क्या मथुरा न जायगी ।
न जा, वहाँ है न पधारना भला
उलाहना है सुनना जहाँ मना ॥ १५।१०१

ऊपर के ये दोनों पद्य वियोगिनी राधा के व्याकुल हृदय के अन्तर्द्वन्द्व और अनिश्चय को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। प्रथम पद्य में तो जाने की प्रेरणा करती है, किन्तु दूसरे ही पद्य में उसे जाने से रोकती है। मानव-जीवन में ऐसी दोलाचल चित्तवृत्ति के अवसर अनेक मिलते हैं। सफल कलाकार ही उनका उपयोग करता है।

राधा जब 'कल कल करती' 'केलिशीला' कालिन्दी से यह प्रश्न करती है कि—

अब अप्रिय हुआ है क्यों उसे गेह आना
प्रति दिन जिसकी ही ओर आँखे लगी हैं।
पग-हित जिसके मैं नित्य ही हूँ बिछाती
पुलकित-पलकों के पाँवड़े प्यार-द्वारा ॥ १५।१६४

—इस समय इन पंक्तियों में उत्कण्ठा के उत्कर्ष के साथ अन्तिम चरण में जो अनुप्रास का भावाभिव्यंजक समावेश है वह इस पद्य को मनोहारिता का प्रतिमूर्त्त रूप बना देता है। प्रेम की प्रत्यह प्रतीक्षा करने वाली प्रणयिनी का प्यार से प्रियतम के पग-हित 'पुलकित पलकों के पाँवड़े बिछाना' उसके कोमल हृदय की कल्पना के उत्कर्ष का प्रबल प्रमाण है।

'प्रियप्रवास' की शैली पर सामूहिक रूप से विचार करने पर यह पता चलता है कि हरिऔध ने वर्णिक वृत्तों और संस्कृतमय शब्दावली का प्रयोग करके प्रगतिशील हिन्दी को

(ख) राधा का चरित्र

राधा के चरित्र पर भी 'हरिऔध' ने बुद्धिवाद का मुलम्मा करने की कोशिश की है। उसके चरित्र के क्रमिक विकास द्वारा, जिसमें वह स्वार्थमय मोह की संकीर्ण गली से चलकर पीछे 'निस्वार्थ प्रणय' के प्रशस्त राजमार्ग पर अपने कदम बढ़ाती है। मोह और प्रणय की विस्तृत विवेचना की गई है सोलहवें सर्ग में। वहाँ बताया गया है कि—

नाना स्वार्थों विविध सुख की वासना-मध्य डूबा
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता
निष्कामी है प्रणय शुचिता-मूर्ति है सात्विकी है
होती सीमा परम उसमें आत्म-उत्सर्ग की है।[illegible]।६६

पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार आत्महित और आत्मउत्सर्ग के बीच श्रीकृष्ण ने अन्तिम को स्वीकार किया। इसी प्रकार लगभग यही प्रश्न राधा के सम्मुख था—अन्तर केवल यही कि जहाँ राधा के लिए दोनों मार्गों का क्षेत्र एक ही था वहाँ कृष्ण के लिये आत्मोत्सर्ग मार्ग स्थानान्तर से था। राधा और कृष्ण मानो एक ही घटना के दो पक्ष हैं। एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। राधा ने श्रीकृष्ण की ही भाँति स्वीकार किया है कि—

मेरे जी मे अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में । १६।१०५

राधा ने अपने प्राणों के प्यारे व्यष्टिरूप प्रियतम को क्रमश समष्टिरूप परमात्मा मे विलीन कर दिया :—

पाती हूँ विश्व प्रियतम मे विश्व मे प्राणप्यारा
ऐसे मैंने जगतपति को श्याम मे है विलोका ॥१६।११२

इस चरम त्यागमय मनोवृत्ति तक पहुँचने मे राधा को विकट अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना ही पडा होगा । और इसे उसने स्वीकार भी किया है—

निर्लिप्ता औ यद्यपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते
वैसी वाञ्छा जगतहित की आज भी है न होती
जैसी जी मे लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥१६।७६
मैं मानूँगी अधिक मुझमे मोह-मात्रा अभी है
तो भी होती प्रणयरंग मे नित्य आरञ्जिता हूँ ।१६।८०

राधा की मनोभावना के विकास का तार्किक विश्लेषण कुछ इस प्रकार किया जा सकता है, —राधा ने सोचा — मैं प्रेम करती हूँ—व्यक्तित्व से तथा तो मुझे [illegible]
क्यों न प्रेम करूँ इस समष्टि से [illegible]
केवल आंशिक प्रतिनिधि है [illegible]
प्रेम न कर [illegible]

इसलिये [illegible]
परम पावन [illegible]

किन्तु अव्यक्त परमात्मा से तो प्रेम सम्भव [illegible]
अव्यक्त परमात्मा का जो व्यक्त रूप है—जगत इसकी [illegible]
लोकसेवा मे ही प्रियतम की सेवा समझूँगी ।

हृदय वरण मे तो मैं चढ़ा ही चुकी हूं
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।

निष्कर्ष यह कि राधा के प्रेमपथ के तीन सोपान थे—

(i) निर्दोष 'वर बालसनेह'

(ii) 'सविधि वरण' की कामना से दूषित स्वार्थमय मोह:

(iii) विश्वप्रेमप्रवण निस्स्वार्थ प्रेम।

किन्तु प्रेम के इस विकास में अन्तर्द्वन्द्वों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से जिस भावनाक्रम (motivation) की आवश्यकता है उसका 'प्रियप्रवास' मे अभाव है। पंचम सर्ग से आरंभ करके सप्तदश तक बस वियोग मे रोना ही रोना है—इस सिलसिले मे मानव-चरित्र के सर्वाङ्गीण चित्रण का अवकाश ही कहाँ?

अन्य गोपियों के सम्बन्ध मे भी यत्रतत्र 'हरिऔध' का आदर्शवाद आँखो से ओझल होगया है। उदाहरणतः—गोपियों के सम्बन्ध मे कहा गया है कि—

> नाना पूजा विविधव्रत औ सैकड़ों ही क्रियाएँ
> सालों की है परम श्रम से भक्ति द्वारा उन्होंने
> ब्याही जाऊँ कुँवर सङ्ग मैं एक वाञ्छा यही थी
> सो वाञ्छा है विफल बनती दग्ध वे क्यों न होंगी [illegible]
> सोचो ऊधो ! यदि यह गई [illegible] [illegible] [illegible]
> कैसा होगा व्रजअवनि के [illegible] का [illegible]
> वे होवेंगी दुखित कितना और कैसी [illegible]
> हो जावेंगे दिवस उनके [illegible] [illegible] [illegible]

यहाँ प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण इतनी बहुसंख्यक गोपियों से अकेले ब्याह करते तो कैसे? और यदि इन बालिकाओं के [illegible] के ख्याल से ऐसा कर भी लेते तो इस [illegible] से

आदर्शवाद का कैसा मेल खाता ? गोपियों की इस अनन्य बुद्धिविहीन मनोवृत्ति पर भी कवि ने यह कलई चढ़ाने की कोशिश की है—

> मेरा ध्यान अवश्य करके आप जो पूछ बैठे
> कैसे प्यारे कुंवर अपने ध्याते लोक को
> तो है मेरी विनय इतनी आप भी ठीक जानें
> क्या जाता है न बुधविदिता प्रेम की अधमता का ॥

गोपियों—मुख्यतः राधा—के चरित्र में अनेक असंगतियाँ हैं। कहीं बचपन में तारुण्य के लक्षण हैं, और कहीं तारुण्य में विरक्ति के (इनके अतिरिक्त विरह और विलाप का इतना लम्बा हार बहुत कच्चे धागे में पिरोया गया है और [illegible] पृष्ठभूमि पर अवलम्बित है।)

(ग) आलोचना

ऐसे स्थल पर अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि चरित्र-चित्रण सम्बन्धी इन त्रुटियों का मुख्य निदान क्या है ?—कवि की काव्य-कला में अथवा गतानुगत कथाप्रसंग में ? हमारे व्यक्तिगत विचार हैं कि 'हरिऔध' ने वर्तमान बुद्धिवाद और आदर्शवाद की प्रगति के प्रभाव में आकर कृष्ण को और राधा को यह आदर्श महात्मा और त्यागिनी के रूप में चित्रित करने की कोशिश तो की, परन्तु अपनी इस कोशिश के लिए उन्होंने जो क्षेत्र अर्थात् प्रतिपाद्य विषय (. . .) चुना, वह उनके प्रतिकूल ही अनुपयुक्त था। गोपियों की पुराणसम्मत परम्परागत रासलीला-मूलक वियोग-गाथा की नींव पर आदर्शवाद और बुद्धिवाद की किलेबन्दी हो ही नहीं सकती। हाँ, कृष्णचरित की अन्य गाथाएँ अवश्य हैं, जिन पर यह किलेबन्दी खड़ी की जा सकती है। महाभारत में सैकड़ों ऐसे प्रसंग हैं जिन पर वीर नीतिज्ञ महापुरुष अथवा योगि-

४. प्रकृति-प्रेमी 'हरिऔध'

प्रकृति (Nature) अपने व्यापक अर्थ में दो प्रकार की है—१—मानव और २—मानवेतर। इनमें से प्रत्येक के दो भाग किये जा सकते हैं :—

- मानव प्रकृति
  - अंतरंग
  - बहिरंग
- मानवेतर प्रकृति
  - नैसर्गिक
  - कृत्रिम

मानव हृदय की सौन्दर्यानुभूति जब बहिर्मुखी होती है तो वह मानव प्रकृति के बहिरंग सौन्दर्य में और मानवेतर प्रकृति के कृत्रिम सौन्दर्य में आकर्षित होता है, किन्तु जब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तो उसका सम्बन्ध मानव प्रकृति के अन्तरंग सौन्दर्य में और मानवेतर प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य से अनायास ही जुड़ जाता है। रीतिकाल के कवियों की दृष्टि मुख्यतः बहिर्मुखी थी अतः—पंत के शब्दों में—"इन (शृंगार-प्रिय) कवियों के लिये शेष रह ही क्या गया? इनकी अपरिमित कल्पनाशक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर नायिका के अंग प्रत्यंग में लिपट गई।" तात्पर्य यह कि इन्होंने प्रकृति के तीन अंगों का तिरस्कार कर केवल एक ही अंग को प्रधानता दी। मानवेतर प्रकृति से तो मानो इन्होंने मुख ही मोड़ लिया था। अब रही मानव प्रकृति।—इसके भी बहिरंग सौन्दर्य के चित्रण में ही—नायक-नायिका की आँख मुँह भौंह भृकुटि और कटाक्ष के ही वर्णन में—इन्होंने अपनी प्रतिभा व्ययित की।

नव हिन्दी के वर्तमान युग का प्रवर्तन हुआ तो कई क्षेत्रों में क्रान्ति हुई। भारतेन्दु ने मानव प्रकृति के अन्तःसौन्दर्य के

ते उसकी अश्रुबूंदे होती हैं। तथाकथित अचेतन जगत में कितनी चेतनता है और कितनी सहृदयता! जब श्रीकृष्ण के प्रयाण की वेला आई, सब जगह उदासी छा गई, तो गगनवर्ती सूर्य ने वृक्ष की ओट में अपना मुँह छिपा लिया—

आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता-सी
थोड़े ऊँचे नलिनपति हो जा छिपे पादपों में। २०।

षष्ठ सर्गः—वह दिन समाप्त हुआ। रात आई और गई। फिर दूसरा दिन! इसी प्रकार कई दिन बीत गए। पर न तो श्रीकृष्ण आए और न आई कोई खबर। फलतः—

पत्ते पत्ते सकल तरु से औ लता-बेलियों से
कोने-कोने व्रज-सदन से पंथ की रेणुओं से।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से
लोने-लोने कुँअर अब लौं क्यों नहीं सद्म आए।१०।

यशोदा बाट ही जोहती रह गई। आशा और उत्सुकता के झूले में झूलती ही रह गई। किन्तु उसके लाडिले श्रीकृष्ण का आगमन न हुआ। उधर राधा के हृदय-प्रान्तर में भी कुण्ठित उत्कंठा और करुण कसक के सिवाय और कुछ नहीं था। आँखों ने आँसुओं की लड़ी नहीं रुकती थी। इसी बीच में—

आई धीरे इस सदन में पुष्प सद्गंध को ले
प्रातःवाली सुपवन इसी काल वातायनों से। २८।

राधा अपनी भावुकता के आवेश में, कालिदास के यक्ष के समान चेतन और अचेतन जगत की सीमान्तरेखा को अतिक्रान्त कर चुकी थी। उसने उस पवन से 'दूत' का नाता जोड़ कर उससे साहाय्य की भिक्षा मांगी और उसके साथ बातें करने में अपने कोमल और करुण हृदय की भावनाओं का जैसी मार्मिक अभिव्यञ्जन की है उसे पढ़कर बरबस 'मेघदूत' की ललित पंक्तियाँ

प्रकरण केवल 'श्री वृन्दावन की मनोज्ञ-मधुरा श्यामायमाना मही' के नैसर्गिक सौन्दर्य के ही विशदीकरण के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। ऊधो ने उस गोवर्धन पर्वत को देखा जो मानो गर्वित और उन्नतमस्तक होकर यह कह रहा था कि—

'मैं हूँ सुन्दर मानदण्ड व्रज की शोभामयी भूमि का'।

उन्होने अनवरत गति से बहनेवाले निर्झरों को देखा जो मानो गतिशील वस्तु की गरिमा की ओर संकेत कर रहे थे। वन में असंख्य पादप खड़े थे।—

मानो वे अवलोकते पथ रहे वृन्दावनाधीश का
ऊँचा शीश उठा मनुष्य-जनता के तुल्य उत्कण्ठ हो।२६।

उन पादपों के व्यक्तिगत वर्णन दिये गए हैं। उसके पश्चात् 'नाना वेली मृदुल लतिका औ ललामा लताएँ' एक एक करके विस्तार से वर्णित की गई हैं। सरों के वर्णन में जिस प्रसन्न अनुप्रास और पदलालित्य का कलात्मक समावेश किया गया है उसकी अति-प्रशंसा नहीं हो सकती।

सरसतालय सुन्दरता-सने
मुकुर-मंजुल-से तरु-पुंज के
विपिन में सर थे बहु सोहते
सलिल से लसते मन मोहते।६७।

(अतुकांत काव्य में 'सोहने' और 'मोहने' की अनायास तुकान्तता भी ध्यान देने योग्य है)।

लस रही लहरें रसमूल थी
सब सरोवर के कल अंक में।
प्रकृति के कर थे लिखते मनो
कल-कथा कमनीय-ललामता।६८।

जहाँ जो कार्य उत्प्रेक्षा की असंभाव्यता की कोटि में करती थी, 'हरिऔध' ने वही काम तत्त्वतः अपनी काव्यकला के द्वारा कर दिखाया है। सरवृन्द के वर्णन के बाद 'कलामयी केलिवती कलिन्दजा' का निरूपण किया गया है। उसकी निम्न लिखित पंक्तियाँ—

अनेक-धारा सरिता-सकान्ति में
सुलतता हो मिलिता प्रदीप्ति की।
दिखा रही थी द्युति नील-कान्त में
समन्विता हीरक-ज्योति-पुंज सी।७३।

—कालिदास के गंगा-यमुना-संगम-वर्णन की सुधि दिलाती हैं—

क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै-
र्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा
.. ..
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा
भिन्नप्रवाहा यमुना—तरंगैः॥

(रघुवंश १३।५४-५७)

तदनन्तर 'प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय' का सविस्तर वर्णन किया गया है। ऊधो ने प्रकृति की माधुरी को निहार निहार कर देखा। परन्तु—

——वे पादप में प्रसून में
पत्तों दलों वेलिलता-समूह में।
सरोवरों में सरि में सुमेरु में
खगों मृगों में वन में निकुंज में।
कहीं हुई एक निगूढ़-खिन्नता
विलोकते थे निज सूक्ष्म दृष्टि से।
गई सनी जो बहु गूढ़ रीति से
वही लगाती उर में व्यथा-लता॥१०७-८

त्रयोदश सर्ग में भी कवि ने प्रकृति के सौम्य रूप को प्रतिकूल दुर्घटनाओं का पूर्वरंग बनाकर काव्यगत विस्मय का उद्रेक किया है। विशाल वृन्दावन की गोद में एक उर्वरा धरा थी। और—

विलोक शोभा उसकी समुत्तमा
समोद होती यह थी सुकल्पना।
सजा-बिछौना हरिताभ है बिछा
वनस्थली बीच विचित्र वस्त्र का।३।

यहीं पर कृष्ण ने क्रमशः एक 'विकराल व्याल' एक 'विशाल अश्व और 'बड़ा बली दानिश व्योम नाम का' एक पशुपाल— इन तीनों का विनाश किया था। प्रसंगवश यह भी बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण के वन में जाने का मुख्य उद्देश्य था 'अनन्त ज्ञानार्जन' और इस उद्देश्य से प्रेरित होकर वे प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ की पूर्ण परीक्षा किया करते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति से उन्हें इतना तादात्म्य था कि—

यदि वह पपिहा की शारिका या शुकी की
श्रुतिसुखकर बोली प्यार से बोलते थे।
कलरव करते जो भूरि-जातीय-पक्षी
दिग तरु पर आ के मत्त हो बैठते थे।१०२।

कृत्रिम सौन्दर्य से नैसर्गिक सौन्दर्य उन्हें ज्यादा मनभावना लगता था—

यह अनुपम नीला व्योम प्यारा उन्हें था
अनुदिन छविवाले चारु चन्द्रातपों से
अति रुचिर निकुंजें थीं उन्हें चारु-प्यारी
मणि-मण्डित विशाली दिव्य-प्रासाद से भी।१०८।

चतुर्दश सर्ग में कवि ने बतलाया है कि कालिन्दी के कूल पर प्यारे प्यारे द्रुमों की गोद में प्यारी प्यारी लताएँ लिपटी हुई थीं

और 'लीलाकारी सलिल सर का सामने सोहना था।' किन्तु गोपबाला को यह शृंगार-केलि अच्छी न लगी। वह रो पड़ी। और—

ज्यों ज्यों लज्जाविवश वह थी रोकती वारिधारा
त्यों त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते।

सर्ग के उत्तरार्ध में कवि ने प्रसंगवश 'शरद की कमनीयता' का उल्लेख किया है। शुभ्र-सलिल सरोवरों में समुल्लसित सुन्दर सरोज—

मानो पसार अपने शतशः करों को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे।८४।

राका-कलाकर-मुखी 'रजनी-पुरन्ध्री अपने यौवन की सम्पत्ति

ऐसे मनोरम प्रभामय काल में भी
म्लाना नितान्त अवलोक सरोजिनी को।
थे यों अजेन्दु कहते ललना-लली को
स्वामी-बिना सब तमोमय है दिखाता।
।१३१।
—आदि।

इन पद्यों को पढ़ कर किष्किन्धा काण्ड के—
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरे धन खल बौराई।—आदि
रामायण के वे उपदेशात्मक पद्य याद आते हैं जिनमें मानव संसार और मानवेतर संसार की घटनाओं में उपमा-गर्भित सामंजस्य का निरूपण किया गया है।

सर्ग के अंत होते समय का निम्नलिखित पद्य—

कूलें वही धन वही यमुना वही है
बेलें वही वन वही विटपी वही हैं।
है पुष्प-पल्लव वही व्रज भी वही है
ये किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते ।४७।

—यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देता है कि मानवेतर जगत और मानव जगत [illegible] ही हृदय का [illegible] है [illegible] विरह की वियोग-विह्वल : [illegible] इन पद्यों [illegible] से प्रकट करते देखते हैं। [illegible] समय था। इसी समय उन्हें 'मनो[illegible] [illegible] की ओट से छिप [illegible] पास गई और [illegible] किन्तु उनकी ओर से को[illegible] [illegible] भी नहीं है' कह [illegible] और वहाँ से चल गई कि समझा कर सहृदय [illegible]—

'पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है।'

क्रमशः चमेली, बेला, चम्पा, कुन्द, केतकी, बन्धूक, सूर्यमुखी और श्यामघटा के पास भी जाकर मनमानी बातें कीं; हार मान कर अलि से भी विनती की—

अलि, अब मत जा तू कुंज में मालती की
सुन मुख अकुलाती ऊबती की व्यथाएँ।५८

मालती ने सपत्नीत्व का ईर्ष्यालु भाव रखती हुई औरों ने प्रणयभिक्षा माँगनी है। और माँगे क्यों नहीं जब उसमें और उसके प्राणप्यारे में इतनी सदृशता है।

तव तन पर जैसी पीत आभा लसी है
प्रियतम कटि में है सोहता वस्त्र वैसा।
गुन गुन करना औ गूँजना देख तेरा
रसमय मुरली का नाद है याद आता।८७

क्रमश मुरली, कुजकोकिला, पदचिह्न और कालिन्दी से वह बाला बातें करती है। उसे अपनी-सी सखी मान कर कहती है—

घन-तन-रत मैं हूँ तू अनन्तानुरागिनी है
तदपि-उर तू है चैन मैं हूँ न पाती।
अयि अलि! बन जा तू शान्तिदाता हमारी
अति प्रतापित मैं हूँ ताप तू है नसाती।१०३

कालिन्दी के गुणों के सादृश्य और वैषम्य दोनों ही नाते उस गोप-बाला ने उसके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध संस्थापित किया।

षोडश सर्ग —पूर्व के सर्गों में प्रसंगवश शरद् और वर्षा-ऋतुओं के वर्णन हो चुके हैं, प्रस्तुत सर्ग का आरम्भ 'विमुग्ध-कारी मधु-मास ऋतु' की रमणीयता के कीर्तन से होता है।

अनुकूल अनुप्रासों के आधार पर वसंत की 'वासंतिकता' की बहार देखने लायक है। उदाहरणतः सरोजिनी और कुमुदिनी के वर्णन में—

वसंत की भावभरी-विभूति-सी
मनोज की मंजुल-पीठिका-समा।
लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी
कुमोदिनी मानस-मोदिनी कहीं।५।

जिस प्रकार मिठाई खाने पर कड़वी या नमकीन चीज का स्वाद और अधिक उग्र हो जाता है, उसी प्रकार इस वसन्त-माधुरी ने गोपियों को वियोग-व्यथा के लिये उद्दीपन का काम किया—

वसंतशोभा प्रतिकूल थी बड़ी
वियोग-मग्ना व्रज-भूमि के लिये।
बना रही थी उसको व्यथामयी
विकाश-पाती वन-पादपावली।१६।
दगों उरों को दहती अतीव थीं
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज-कोंपलें।
अनार-शाखा कचनार-डार थीं
प्रसून - अंगार - अपार - पूरिता।१७।

सर्ग के उत्तरार्ध में कवि ने यह प्रदर्शित किया है कि राधा के गृह के पास की वाटिका वसन्त के कारण कान्त होते हुए भी [illegible] शान्त था। तात्पर्य यह कि राधा के दुख की छाया उस वाटिका पर भी पड़ी थी। वहाँ वसन्त ऋतु भी अपनी उद्दण्डता के [illegible] ठिठर-सा गया था। चेतन और अचेतन जगत में इस प्रकार का सामञ्जस्य, क्रिया-प्रतिक्रिया 'हरिऔध' को सर्वत्र इष्ट है।

सप्तम सर्ग में—इधर आग के आकाश की निराशा को व्रजवासियों ने पूर्णत ढक लिया और प्रामाणिकरूप से व्रज-दर्शकों को पता चल गया कि उनके हृदय के धन ने—

त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारका मे ।

—उस तिमिराच्छन्न मनोवृत्ति मे भी प्रकृति ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है । सूर्य और शशी की 'न्यारी आभा-निलय किरणे,' 'ताराओ से खचित नभ की नीलिमा,' 'मेघमाला,' वृक्षों और 'ललित-लतिका-वेलियो' की छटाएँ, 'सरित, सर औ निर्झरों' के जलो की केलिलीलाएँ, गान-वाद्यादिको की 'मधुर लहरें' और 'मीठी ताने', खगो की बोलियाँ बालको की क्रीड़ाएं, पर्वों और उत्सवो के आयोजन,—सारांश यह कि 'वैचित्र्यो-से-वलित' विश्व की सारी सम्पदाएँ नन्द, नन्दरानी, राधा और गोप-गोपियो के हृदय को फेरने मे सहायक हुई, अपनी ओर आकर्षित करके दुःख का बोझ हल्का करने मे कुछ अशो तक समर्थ हुई ।—कुछ ही अशो तक—क्योकि फिर भी—

जब कुसुमिति होती वेलियाँ औ लताएँ
जब ऋतुपति आता आम की मजरी ले ।
जब रसमय होती मेदिनी हो मनोज्ञा
जब मनसिज लाता मत्तता मानसो मे ।२६

जब मलयप्रसूता वायु आती सुसिक्ता
जब तरु कलिका औ कोपलोत्पान होता ।
जब मधुकरमाला गूँजती कुज मे थी
जब पुलकित हो हो कूकती कोकिलाएँ ।२७—
तब ब्रज बनता था मूर्ति उद्विग्नता की ।२८।

यदि इस व्यापक उद्विग्नता की स गरलहरी मे बचाने का कोई साधन था—तो वह राधा के प्रणय का वह चरम रूप था जिसमे वह अपनी मोहभावना को तिरस्कृत करके विश्व-प्रेम-परायण बन चुकी थी—

लग्ना हो विविध कितने सान्त्वनाकार्य में भी
सेवाएँ थीं सतत करती वृद्ध-रोगी-जनों की।
दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानती थीं
पूजी जाती ब्रज-अवनि में देवितुल्या अतः थीं ।४६।

उपसंहार के रूप में हम 'हरिऔध' की उन विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिनका उन्होंने मानवेतर-प्रकृति के चित्रण में समावेश किया है—

(i) उन्होंने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रकृति की ही गोद में लालित और पालित चित्रित किया है।

यह हरित तृणों से शोभिता भूमि रम्या
प्रियतर उनको थी स्वर्ण-पर्यंक से भी ।१३।१०९।

(ii) उन्होंने मानव-हृदय की भावनाओं और मानव कार्य-कलापों के पृष्ठाधार (background) रूप में प्रकृति के दृश्यों को अपनाया है।—

(क) कहीं तो अनुकूल पृष्ठाधार के रूप में—जैसे, अन्धकार-मय निशीथ के वर्णन के पश्चात् अक्रूर के आगमन की क्रूर सूचना दी गई है।

(ख) कहीं प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में—जैसे एकादशसर्ग में वनस्थली और पादपों के मनोहर वर्णन के पश्चात् उन्हीं का कालिय और दावानल के दारुण कराल रूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रतिकूल पृष्ठाधारता का उद्देश्य पाठक के मस्तिष्क में एक आकस्मिक चमत्कार (element of surprise) का संचार करना है।

(iii) किन्हीं स्थलों में मानवेतर जगत और मानव जगत की [illegible] में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रदर्शित किया गया है। उदाहरण—यदि [illegible] रोती है और आँसू बहाती है तो रजनी भी ओस के आँसू बहाती है।

(iv) कुछ प्रसगों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव के न रहते हुए भी मानव हृदय के प्रति प्रकृति की सहानुभूतिसूचक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख किया गया है। जैसे—सर्वत्र उद्दाम होते हुए भी राधा की वाटिका में वसन्त ऋतु अपनी उद्दामता भूल कर शान्त बन जाता है।

(v) कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिनमें प्राकृतिक पदार्थों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करके उनके साथ ही मानवहृदय हँसता है, रोता है और विश्रम्भालाप करता है। यथा—राधा ने 'पवन' को बहन मानकर उससे सन्देशे भेजे हैं और अपनी कल्पना के उत्कर्ष (flight of imagination) का परिचय दिया है।

(vi) कही कहीं तो प्राकृतिक दृश्यों का केवल कलात्मक निरुद्देश्य वर्णन है जहाँ सौन्दर्यानुभूति के अतिरिक्त और कोई मुख्य ध्येय नहीं है। ऊधो के वृन्दावन आते समय प्रसंगवश नवम सर्ग में जो विस्तृत प्राकृतिक रूपराशि का उद्घाटन किया गया है उसका प्रयोजन कला की कला निमित्त निर्मिति (art for art's sake) ही दीखता है।

(vii) प्रकृति से मानव जगत ने उपदेश भी ग्रहण किये हैं। यथा—उस प्रसग मे जहाँ श्रीकृष्ण भिन्न भिन्न दृश्यों की ओर सकेत करते हुए उनसे जीवन-यात्रा के लिये सिद्धान्त-सम्बल की भीख माँगते हैं और कमलिनी कुल वल्लभ के अस्तगत होने पर कमलिनी की म्लानता देखकर पति-विहीन स्त्री की दयनीय दशा पर आलोचना करते है।

सप्तदश सर्ग मे वियोग व्यथा-विह्वल-हृदय के घाव के लिये प्रकृति की मनोरम दृश्यावली मरहम-पट्टी का भी काम करती है। वह गोप-गोपियों की चित्तवृत्ति को कुछ देर तक अपनी ओर आकर्षित करके दारुण आपदाओं को भूलने मे सहायता देती है।

उपरिलिखित समालोचना को दृष्टि में रखते हुए जब हम माधुरी (वर्ष ११. खंड १. संख्या २) में श्रीयुत भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' को 'हरिऔध' के संबंध में सामान्य रूप से यह लिखते हुए देखते हैं कि "प्रकृति का विराट् रूप अपनी परम व्यापकता एवं माधुरी के साथ इनके हृदय में घर किये हुए है। प्रकृति के नाना हास-विलास के साथ इनके हृदय ने पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर लिया है। वह उसमें रम जाते हैं, घुल-मिल जाते हैं। प्रकृति के विविध रूप, प्रातः एवं सान्ध्य गगन, निशीथ एवं प्रभात, वसंत, कछार, अमराइयों, कुंजों, कुटीरों का जैसा मनोहारी वर्णन 'प्रियप्रवास' में मिलता है, वैसा आधुनिक युग में किसी कवि की रचना में मिलना कठिन है।........उपाध्याय जी ने मनोभावों के अनुकूल प्रकृति-छटा और प्रकृति-छटा के अनुकूल मनोभाव सम्पादित कर, पारस्परिक समन्वय द्वारा हमारे हृदय को पूर्णतः छीन लिया है। ... .इनके काव्यचित्रों में प्रकृति का उतना ही विराट व्यापक रूप है, जितना महर्षि वाल्मीकि की रामायण, कालिदास के नाटकों तथा टामस हार्डी (Thomas Hardy) के उपन्यासों में।" तो विशेष रूप से इन पंक्तियों की सत्यता का सन्देह होना ही पड़ता है।

५. रस-विशेष का संनिवेश

(कृष्णकाव्य के प्रमुख स्रष्टा सूरदास के समान 'हरिऔध' ने भी 'प्रियप्रवास' में मुख्यतः दो रसों का सनिवेश किया है—वे हैं विप्रलंभ-शृंगार और वात्सल्य। पर अन्तर यह है कि अपने काव्य की प्रबन्धात्मकता के अभाव से तथा कृष्ण-कथानक के व्यापक रूप को काव्यविषय बनाने के कारण सूरदास को शृंगार और वात्सल्य दोनो रसों के चित्रण और परिपाक का पूर्ण अवसर मिला; किन्तु प्रबन्धात्मक होते हुए भी, काव्यविषय के संकीर्ण होने से, 'हरिऔध' को दोनो रसो के विस्तृत और स्वतन्त्र आविर्भाव का मौका नहीं मिला। अतः 'प्रियप्रवास' में प्रधान रस विप्रलंभ शृंगार है और वत्सल का द्वितीय स्थान है।

दूसरे दिन प्रातः श्रीकृष्ण की विदाई है। रात में 'सुकोमल श्याम' सो रहे हैं और उनके तल्प के पास ही माता यशोदा बैठी चुपचाप आँसू बहा रही हैं—चुपचाप इसलिये कि बच्चा जग न जाय। इस प्रसंग मे निम्नलिखित पक्तियाँ लिख कर कवि ने जननी-हृदय की विकलता का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिया है—

> पट हटा सुत के मुख-कञ्ज की
> विकचता जब थी अवलोकती।
> विवश-सी तब थी फिर देखती
> सरलता, मृदुता सुकुमारता। ३।३२।
>
> . ...
>
> हरि न जाग उठें इस शोच मे
> सिसकती तब भी नहि वे रहीं।

इसलिये उनका दुख-वेग से
हृदय था शतधा अब हो रहा। ३।३३

इसी तृतीय सर्ग में यशोदा ने जो प्रार्थना की है वह उनके पुत्रवत्सल हृदय की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना है। जगदम्बिका को संबोधन करके उन्होंने ये पंक्तियाँ कही हैं:—

कृत-कारिणि दुष्ट-निकंदिनि
जगत की जननी जगदम्बिके।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा
जननि ही जिय है कुछ जानती ॥ ३।४९

मानो इन पंक्तियों द्वारा माता यशोदा ने यह संकेत किया है कि पुत्र वियोग की वेदना की जो सकरुण अनुभूति मातृ-हृदय करता है उनका वर्णन नहीं हो सकता और न दूसरा कोई भुक्तभोगी के अतिरिक्त इस अनुभूति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही स्थापित कर सकता है। 'जाके पाँव न फटै बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई!'

माता की प्रेमभरी दृष्टि में अलौकिक पराक्रम प्रदर्शन करते हुए भी कुवलय-गजेन्द्र को परास्त करते हुए भी कंस के भेजे हुए भीमकाय मल्लों का मानमर्दन करते हुए भी, श्रीकृष्ण 'परम कोमल' सुकुमार कुमार और पयमुख बालक के रूप में ही नजर आते हैं। माता की व्याकुलता इन बातों की है कि कहीं मार्ग के ताप में उनका मुख-सरसिज म्लान न हो [illegible] उच्चावच उद्यान [illegible] प्रचंड पवन [illegible] में उन्हें कष्ट न होने पावे [illegible] [illegible] सी मोपती-सा [illegible] की प्रतीक्षा में [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] है। और—
[illegible]
[illegible]

इस स्थल पर प्रवास विप्रलम्भ और करुण में अन्तर बता देना उचित होगा है। विश्वनाथ ने लिखा है कि—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलंभोऽसौ।

सा० द० ३।१८७

अर्थात् प्रेम जब नायक अथवा नायिका के पक्ष में विकल होता है तो वहाँ विप्रलम्भ कहा जायगा। यह विप्रलम्भ चार प्रकार का है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। 'प्रियप्रवास' में मुख्यतः प्रवास-विप्रलम्भ का उद्रेक हुआ है। क्योंकि 'प्रवास-विप्रलम्भ' की परिभाषा है—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात्।

३।२०४ (सा० द०)

अर्थात् कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश यदि देशान्तर में नायक अथवा नायिका को रहना पड़े तो वैसी दशा में प्रवास विप्रलम्भ होता है। किन्तु अन्त में चलकर यह प्रवास-विप्रलंभ, हमारी समझ में, करुण में रूपान्तरित हो गया है। क्योंकि विप्रलम्भ और करुण में मुख्य अन्तर यही है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है और करुण का स्थायी भाव शोक है। विप्रलंभ में संभोग की परिणति होना आवश्यक है, किन्तु करुण में आरंभ से अन्त तक शोक ही शोक रहता है। इसमें मिलन की आशा नितान्त उन्मूलित हो जाती है। 'प्रियप्रवास' में भी पीछे चल कर आशा बिलकुल निरस्त हो गई है और राधा एक ऐसे पथ की पथिक हो जाती है जो उसे शान्त रस की ओर प्रवृत्त कर देता है। विश्व की व्यापकता में प्रियतम की माधुरी का आस्वादन करना कभी भी शृङ्गार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि 'हरिऔध' से विप्रलंभ का परिपाक नहीं बन सका। इतनी लंबी चौड़ी

हो गए, प्रातःकालीन सूर्य ने उदयाचल के पीछे से ही वेदना-व्यथित व्रज की सान्त्वना के उद्देश्य से अपने कर फैला दिये, इने गिने तारे भी 'वेकली' के कारण निष्प्रभ दीखते थे। जब प्रातःकाल हो गया और अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण प्रस्थान करने लगे (पञ्चम सर्ग), तब—

काकातुआ महर-गृह के द्वार का भी दुखी था। ५।४०

अन्य पक्षी और गौएँ भी मनस्ताप का अनुभव करती थीं। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर पीडा और भी घनीभूत होगई और अब तो—

> पत्ते पत्ते सकल तरु से औ लता-वेलियों से
> कोने कोने व्रज-सदन मे पथ की रेणुओं से
> होती-सी थी यह ध्वनि सदा कुञ्ज से काननों मे
> लोने लोने कुँवर अब लौं क्यो नही सद्म आए ॥
>
> —६।१०

इन तरुओ, लता-वेलियो, पथ की रेणुओ, कुञ्जो और काननों मे वेदना इतनी व्याप गई कि वे मानो करुणा के प्रतीक हो गये। फलतः काल-क्रम से इनको देखते ही अतीत स्मृतियों की आग सुलग पडती थी और वे शोक के उद्दीपन बन जाते थे।

यथा—

> नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा
> वोली खिन्ना विपुल वन के अन्य-गोपागना से
> कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है वनाता
> प्यारी-डूवी जलद-तन की मूर्ति है याद आती ॥१४।४

प्रकृति-चित्रण वाले अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रकार 'हरिऔध' ने मानव भावनाओ के विकास के

यदि स्मृति विरची तो क्यों उसे है बनाया
गपन - पटु कुपीडा - बीज प्राणी उरों में ॥ १५।८

(' प्रियप्रवास ' की विरह-गाथा को पढ़कर कभी कभी इसकी एकांगिता का ध्यान होने लगता है और प्रश्न होता है कि क्या नंद, यशोदा, राधा और अन्य गोपगोपियाँ ही व्यथित थीं, कि श्रीकृष्ण भी ? नहीं। हरिऔध ने श्रीकृष्ण की भी मानसिक वेदना और उत्सुकता का वर्णन किया है। उदाहरणतः—नवम सर्ग में यह दिखलाया गया है कि व्रजदेव उत्सन्न व्रजभूमि की स्मृति में उद्विग्न बने बैठे थे कि उनके मित्र उद्धव वहाँ आ पहुँचे। उद्धव के प्रश्न करने पर उन्होंने अपनी म्लानता का कारण यों बतलाया :—

शोभा - अद्भुत-शालिनी व्रजधरा प्यारो - पगी गोपिका
माता प्रीतिमयी, सनेह-प्रतिमा, वात्सल्य - धाता पिता
प्यारे गोपकुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि - से गोप वे
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा ॥ ९।४

राजनीति के अत्यन्त पेचीले पचडों में पडने के कारण स्वयं न आकर उन्होंने उद्धव को सान्त्वना-कार्य के लिये भेजा, उद्धव ने भी प्रेम-परायण गोप गोपियों को यह विश्वास दिलाया कि—

सायं प्रात प्रति पल घटी हैं उन्हें याद आती
सोते मे भी व्रजअवनि का स्वप्न वे देखते हैं
कुंजो पुंजो मन मधुप लौं सर्वदा घूमता है
देखा जाता तन भर वहाँ मोहिनी मूर्ति का है ॥ १४।१८

किन्तु उद्धव के बिना कहे हुए भी व्रजवासी प्रेम की द्विकोटिकता और अन्योन्याश्रयता के कायल थे। त्रयोदश सर्ग में कवि ने यह दर्शाया है कि एक अवसर पर जब ऊधो जी ने मुकुन्द के समाचार आदि बता दिये तो उपस्थित गोपकुमारमंडली में से एक ने कातर किन्तु धीर स्वर मे यह घोषित किया कि—

मुकुंद चाहे यदुवंश के बने
सदा रहें या वह गोपवंश के
न तो सकेंगे ब्रजभूमि भूल वे
न भूल देगी ब्रजमेदिनी उन्हे ।१३।१६।

हृदयों की इस क्रिया-प्रतिक्रिया ने कारुण्य का रंग और गहरा बना डाला है। वेदना आँसुओ के द्वार का नियत्रण तोड़ देती है और उनकी धारा प्रवाहित हो जाती है। जब दु:खो के वाष्प हृदयाकाश में जाकर घनो के रूप मे घनीभूत हो जाते हैं, तो जब तक वे आँसुओ की बूंदो के रूप मे बरस नही पड़ते, तब तक वह हृदयाकाश निर्मल और प्रसन्न नही हो पाता। यही प्राकृतिक नियम है। (१४।९)।

कभी कभी गोपियाँ उत्कंठा के उत्कर्ष और उसकी मस्ती मे कल्पना के विमान पर सवार होकर उन्मुक्त उडाने लेने लगती हैं। और जैसे विद्यापति ने—

सुरपति पाए लोचन मांगओं
गरुड मांगओ पांखि
नन्द क नंदन मैं देखि आवओ
मन मनोरथ राखि। -

इस पद्य मे उत्कंठा का [illegible] का परिचय दिया है।—

अथवा—जायसी ने लिखा है कि -

यह तन जारौ छार कै [illegible] कि पवन उड़ाव
मकु तेहि मारग [illegible] परै कंत धरै जहँ पाँव।—

इसी प्रकार 'हरिऔध' [illegible] प्रियप्रवास पात्रों मे ब्रजबाला के निराश हृदय का [illegible] का कोमल और भावुक [illegible]
[illegible]

यह कालिन्दी से कहती है—

विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं
मम तन व्रज की ही मेदिनी में मिलाना
उस पर अनुकूला हो बड़ी मञ्जुता से
कल कुसुम अनूठी श्यामता के उगाना। १५।१२५

(जायसी की नायिका तो भौतिक सतह पर मिलन की आशा न पूरी होते देख अपने को जला कर राख बना देना चाहती है और जब पवन उसे उड़ा ले जाय तो उस राह में बिखर जायगी जिधर से गुजरता हुआ प्रियतम उसके क्षारमय अस्तित्व को कुचल कर उसे सम्पर्क का सौभाग्य प्रदान करेगा, किन्तु 'हरिऔध' की नायिका यमुना से कहती है कि जब वह उसकी धार में वह पड़े तो वह (यमुना) उसकी मिट्टी व्रज की ही मिट्टी में मिला देगी और नायिका के उसी मृन्मय अस्तित्व पर श्याम-कुसुम उगा देगी। कितना अभूतपूर्व मिलन होगा वह! आत्म त्याग की कैसी अलौकिक उद्भावना! राधा की पवन के प्रति सदेशोक्ति (षष्ठ सर्ग) अथवा व्रज-बाला का कुञ्जों में भ्रमण करते हुए फूल-फूल से अपना नाता जोड़ कर उससे दिल की बातें कहना (पञ्चदश सर्ग) आदि कुछ ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनमें जाग्रत कल्पना करुणा के सोये हुए तारों को झंकृत कर देती है।)

जब वह पिकी से कहती है कि—

न कामुका हैं हम राजवेश की
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें
अनन्यता से हम हैं व्रजेश की
विरागिनी पागलिनी वियोगिनी। १५।९७—

तब हमें उसकी वेदना की विषमता के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नही रह जाता।

(काव्य के अन्त में वह करुणा, जो पहले वेगवती वर्षाकालीन निम्नगा के समान मोह-कर्दम-कलुषित उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, कुछ मन्द पड़ जाती है, और उसमें निर्वेद और आत्म-त्याग की शरत्कालीन शान्ति तथा प्रणय की प्रसन्नता छा जाती है।)

जो थीं कौमार-व्रत-निरता बालिकाएँ अनेकों
वे भी पा के समय ब्रज में शान्ति विस्तारती थीं। १७।५१

राधा का प्रियतम विश्व-ब्रह्म बन जाता है। और अब तो यों—

श्रवण कीर्त्तन वन्दन दासता
स्मरण आत्म निवेदन अर्चना
सहित सख्य तथा पद सेवना
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है। १६।११५।—

उनका रूप ही बदल जाता है। आर्त्तों का करुण क्रन्दन सुनना ही श्रवण-भक्ति है। विद्वानों और लोकोपकारकों के प्रति विनय प्रदर्शित करना ही वन्दन-भक्ति है, —आदि। तात्पर्य यह कि राधा ने संसार की सेवा को ही प्रभु की भक्ति समझ लिया। इसके प्राणेश कृष्ण एक भौतिक और स्थूल प्रेमपात्र से चल कर सूक्ष्म तथा दार्शनिक ब्रह्म बन गए। और राधा का प्रेम भी मोह से चल कर निःस्वार्थ प्रणय की अवस्था से गुजरते हुए करुणा और निर्वेद की दिशा में प्रवृत्त हो गया। विप्रलम्भ शृङ्गार के विकास का ऐसा क्रम साहित्यशास्त्र के लिये एक अनूठी वस्तु है और इस 'परिवर्तन' के मूल में है हरिऔध का वह आदर्शवाद जो संयोग शृङ्गार की उदात्तता और वात्सल्य करुणा की वेदी पर प्रज्वलित हुआ है।

हाय! मेरा जीवन
प्रेम और आँसू के कन!

(पल्लव)

महादेवी वर्मा की आँखों में अनन्त काल से इतना आँसू बह चुका है कि उस आँसू-राशि में 'मधुर पीर' की सुगन्धि लेकर शत-शत नीरज फूट पड़े हैं—

प्रिय! इन नयनों का अश्रुनीर
दुख से आविल सुख से पंकिल
बुद्बुद से स्वप्नों से फेनिल
बहता है युग युग से अधीर
.. ..
इससे उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित
सौरभ सी लेकर मधुर पीर।

(नीरजा)

रामकुमार वर्मा की 'जीवन-तंत्री' के तार आहों के तार हैं और जब तार ही आहों के ठहरे, तो उनसे जो झंकार पैदा होगी उसका तो कहना ही क्या! यदि उसमें वेदना भरी हो और भरी हो उसमें कसक, तो इसमें आश्चर्य ही क्या! आज हमारे गुलशन में गुल की महक बुलबुल की चहक नहीं है आनन्द-अरविंद के मकरन्द बिन्दु का अमन्द निष्पन्द नहीं है। हमारे उपवन में तो 'करुण कथाओं की मृदु कलियाँ हैं जिनमें—

न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस राग पराग—'

कुछ नहीं। (पल्लव)

अब प्रश्न यह है कि नवयुग के काव्य में करुण धारा की प्रधानता का क्या कारण है और हरिऔध और गुप्त जी भी इस धारा

सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया !

कैसी मार्मिक वेदना है अन्तिम दो पंक्तियों में !

'यशोधरा' को ध्यान में लाते ही आपको कवि सार रूप में यह बतला देगा कि कि गोपा उस नारीत्व का प्रतीक है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जायगा कि—

अबला-जीवन ! हाय ! तुम्हारी यही कहानी !
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !

'द्वापर' में कवि ने विधृता, यशोदा, कुब्जा और गोपी—इन के नारीरूप का जो चित्र आँका है वह करुणा और विरह से ओतप्रोत है। विधृता के नारीरूप के पक्षपाती होने के नाते गुप्त जी ने नर-रूप पर कलंक के छिपे छींटे भी लगाए हैं :—

अविश्वास, हा ! अविश्वास ही
नारी के प्रति नर का !
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं
स्वामी है वह घर का !
उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय ! तुम्ही से नारी !
जाया होकर जननी भी है
तू ही पाप—पिटारी !

जब विधृता के जीवन की बुझती हुई दीपशिखा अपनी ज्वाला की अन्तिम लपट के साथ सुर मिलाकर यह कहती है कि—

किन्तु आर्य नारी, तेरा है
केवल एक ठिकाना !
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट घर आना !—

जल का अनल ज्यों, त्यों अनल का शत्रु जल
फिर मृत्यु का ही क्या कहीं
कोई विरोधी गुण नहीं?
मेरे मरण का शत्रु है जीवन अटल!

'पत्रावली' में भी वीर के साथ करुण रस मिश्रित है। और नत 'किसान' की आत्मकथा—जिसके लिये—

साहू, महाजन, जमींदार तीनों ठने।
वात, पित्त, कफ-सन्निपात जैसे बने।—

का तो कहना ही क्या? वह तो विपत्तियों के द्वारा ठोकरें खाकर सम्हलने वाले जीवन का ज्वलन्त चित्र है। 'जयद्रथवध' का उत्तरा-विलाप किसके हृदय को द्रवित नहीं कर देता।

आशय यह कि शनैः शनैः अस्त होने वाले जमाने के होते हुए भी, नए जमाने के साथ कदम में कदम मिला कर चलने वाले इन दोनों कवियों—अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिली शरण गुप्त—के हृदय की तंत्री का प्रमुख तार करुणा से निर्मित है यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गुप्त जी की करुणा अपेक्षाकृत अधिक नैसर्गिक और बहुमुखी है, उनकी काव्यकला क्रमशः अधिक विकासवती है।*

---

* इस पुस्तक में करुण के शास्त्रीय और लौकिक अर्थों में भेद दिखलाने के लिये क्रमानुसार शब्दों में [illegible] करुण और 'करुणा' का प्रयोग किया गया है यद्यपि [illegible] में यह भेद धुंधला हो जाता है।

७. उपसंहार

वृत्त-विधान

(क)

छन्द का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है पिंगल-छन्दःशास्त्र। यह ग्रन्थ सूत्रों में है और आठ अध्यायों में विभाजित है। उसके बाद सैकड़ों पुस्तकें लिखी गईं जिनमें 'वृत्तरत्नाकर' और 'छन्दोमंजरी' के नाम सरलता और प्रचार की दृष्टि से उल्लेख्य हैं। हिन्दी में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'छन्दःप्रभाकर' प्रामाणिक और प्रचलित है। इसके अतिरिक्त और भी छोटी-बड़ी बहुत सी पुस्तकें हिन्दी में प्राप्त हैं।

रचना दो प्रकार की होती है—गद्यमय और पद्यमय। पद्य के सामान्यतः चार 'पाद' या 'चरण' होते हैं। पद्य मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—मात्रिक और वर्णिक। पारिभाषिक रूप में मात्रिक पद्य को 'जाति' और वर्णिक पद्य को 'वृत्त' भी कहते हैं। मात्रिक पद्य का स्वरूप उसके चरणों की मात्राओं की सामूहिक संख्या पर निर्भर है।

यथा—चौपाई। प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हों।—

इहाँ राम लछुमनहि निहारी—आदि।

वर्णिक वृत्तों का निर्णय चरणगत वर्णों के क्रम और स्वरूप पर निर्भर है। इस क्रम और स्वरूप के ज्ञान के लिये गणों को जानना आवश्यक है। तीन तीन अक्षरों के समूह को 'गण'

कहा जाता है। इन गणों का नाम अक्षरों से है—जैसे यगण, रगण आदि। गणों के स्वरूप-निर्णय के लिये निम्नांकित पद्य याद रक्खा जा सकता है :—

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥

अर्थात् क्रमशः आदि मध्य और अन्त में भगण, जगण और सगण गुरु होते हैं; इसी क्रम में यगण, रगण, तगण लघु होते हैं; तथा मगण में तीनो गुरु और नगण में तीनो लघु होते हैं। गणों के इस रूपनिर्देश को सांकेतिक रूप में यों प्रगट किया जायगा :—

	आदि	मध्य	अंत
भ—	ऽ	।	।
ज—	।	ऽ	।
स—	।	।	ऽ
य—	।	ऽ	ऽ
र—	ऽ	।	ऽ
त—	ऽ	ऽ	।
म—	ऽ	ऽ	ऽ
न—	।	।	।

(नोट :—ऽ=गुरु या दीर्घ। सांकेतिक अक्षर—गा।
।=लघु या ह्रस्व। सांकेतिक अक्षर—ल।

'प्रियप्रवास' में केवल वर्णिक वृत्त ही प्रयुक्त हुए हैं। जिन वृत्तों का उपयोग इस काव्य में किया गया है उनके नाम, परिभाषाएँ और एक एक उदाहरण नीचे दिये जाएँगे।

मालिनी—अक्षरसंख्या—१५।

परिभाषा—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः (न, न, म, य, य)

	न	न	म	य	य
	I I I	I I I	S S S	I S S	I S S
उदाहरण—	जब कु	सुमित	होती वे	लियाँ औ	लतायें
	जब ऋ	तु पति	आता आ	म की मं	जरी ले
	जब र	स मय	होती मे	दिनी ही	मनोज्ञा
	जब म	नसिज	लाता म	त्तता मा	नसों में

मन्दाक्रान्ता—अक्षरसंख्या—१७।

परिभाषा—मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगै र्मो भनौ तौ गयुग्मम (म, भ, न, त, त, ग, ग तथा ४, ६ और ७ अक्षरों पर विराम।)

	म	भ	न	त	त	ग, ग
	S S S	S I I	I I I	S S I	S S I	S S
उदाहरण—	सच्चे स्ने	ही अव	नि जन	के देश	के श्याम	जैसे
	राधा जै	सी सद	य हृदया	विश्व	के प्रेम	डूबी
	है विश्वा	त्मा भर	त भुवि	के अक	मे और	आवे
	ऐसी व्या	पी विर	ह घट	ना किंतु	कोई न	होवे

१७।५४

शिखरिणी—अक्षरसंख्या—१७

परिभाषा—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला ग शिखरिणी (य, म, न, स, भ, ल, ग तथा ६ और ११ अक्षरों पर यति।)

य म न स भ ल ग

I S S S S S I I I I I S S I I I S

उदाहरण-अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुर स सं
वना जो देती थी बहु गु ण मयी भू विपि न को
निराले फूलों की विविध दल वा ले अनु पमा
जड़ी बू टी नाना बहु फ ल वती थीं विल सती

शार्दूलविक्रीडित—अक्षरसंख्या—१९।

परिभाषा—सूर्याश्वै र्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।
(म, स, ज, स, त, त, ग तथा १२ और ७ अक्षरों पर यति।)

म स ज स त त ग

S S S I I S I S I I I S S S I S S I S

उदाहरण-बोले वा रिद गा त पास बिठला संमान से बंधु को
प्यारे स र्व विधा न हीं नि यति का व्यामोह से है भ रा
मेरे जी वन का प्रवाह पहले अत्यंत उन्मुक्त था
पाता हूँ अब मैं नितांत उसको आबद्ध कर्त्तव्य में

ऊपर जिन जिन छंदों का रूप-निर्णय किया गया है उनमें शिखरिणी और शार्दूलविक्रीडित इन दो का प्रयोग 'प्रियप्रवास' में बहुत कम हुआ है। किन्तु शेष का उपयोग बाहुल्य से हुआ है।

परिशिष्ट

(क) पारिजात

(ख) वैदेही-वनवास

(क) पारिजात*

१
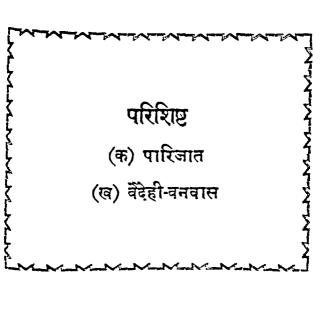
महाकाव्य (?)

'पारिजात' 'हरिऔध' की दो नवीनतम रचनाओं में से एक है। कवि के शब्दों में यह 'आध्यात्मिक और आधिभौतिक विविध-विषय-विभूषित एक 'महाकाव्य' है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह महाकाव्य के शास्त्रीय और परम्परागत लक्षणों से युक्त है? क्या यह भी 'प्रियप्रवास' की ही कोटि में रक्खा जा सकता है? उत्तर होगा—'नहीं'। महाकाव्य के लक्षणों की प्रस्तुत पुस्तक में विस्तृत विवेचना की जा चुकी है† और उनका पुनः उल्लेख पिष्टपेषणमात्र होगा। किन्तु इतना कहना पर्याप्त होगा कि पारिभाषिक अर्थ में महाकाव्य का प्रबन्धात्मक कथानक के आधार पर अवस्थित होना अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक 'पारिजात' में न तो इस प्रकार का कोई कथानक है, न नायक-नायिका हैं, और न सन्धियाँ हैं। केवल कुछ सर्गों के शीर्षकों के रूप में 'दृश्य जगत्' 'अन्तर्जगत्' 'सांसारिकता' 'स्वर्ग' 'कर्मविपाक' 'प्रलयप्रपंच,' 'सत्य का स्वरूप,' 'परमानन्द' आदि लिख देने से ही किसी काव्य को प्रबन्धात्मक रूप नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इन शीर्षकों की ओट में केवल मुक्तकों का [illegible] कुछ शिथिल लड़ियाँ जोड़ी गई हैं। और त्रयोदश सर्ग में तो [illegible] शीर्षक कल्पित करके भिन्न भिन्न परस्पर असम्बद्ध 'विषय' पर

---

* पुस्तकभंडार, लहेरियासराय और पटना। मूल्य ६)

† देखिये पृष्ठ २ से १८ तक

रचे गए स्फुट काव्यों का एक संग्रहमात्र दे दिया गया है। अतः इस 'विविध-विषय-विभूषित' मानमती के पिटारे को शास्त्रीय दृष्टि से 'महाकाव्य' कहना असंगत होगा।

तब प्रश्न यह होता है कि शास्त्रीय ज्ञान रहते हुए भी 'हरिऔध' ने 'महाकाव्य' संज्ञा क्यों दी? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि कवि को 'महाकाव्य' की शास्त्रीय भावना में भी क्रान्तिमय परिवर्त्तन इष्ट था। मानों प्रत्येक महाकाय काव्य 'महाकाव्य' कहे जाने का अधिकारी हो! किन्तु इन पंक्तियों के लेखक की संमति में परम्परागत शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों में इस तरह का उच्छृंखल परिवर्त्तन अनुचित है। माना, कि हमें अपनी पुरानी साहित्य-शास्त्रीय भावनाओं की अक्षरशः अनुवर्तिता नहीं करनी चाहिये; किन्तु साथ ही साथ अकारण और निरंकुश परिवर्त्तन की भी उपादेयता सन्दिग्ध ही है। काव्य के अवान्तर भेदों की विलुप्ति समालोचना को असहाय बना देगी, सहस्रों वर्षों की सञ्चित काव्यभावना की जड़ एकबारगी हिल उठेगी।

२

शैली

'प्रियप्रवास' की शैली से 'पारिजात' की शैली में महान् अन्तर यही है कि जहाँ 'प्रियप्रवास' अव्याहत रूप से संस्कृत के वर्णिक वृत्तों में ही रचा गया है, वहाँ 'पारिजात' के छंद मिश्रित हैं—इधर भिन्न भिन्न प्रकार के गीत और चलते चौपदे भी, उधर शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी भी। सामूहिक दृष्टि से वर्णिक वृत्तों को गौण स्थान दिया गया है। यह संतोष की बात है कि 'प्रियप्रवास' की भूल पूर्ण रूप से नहीं दुहराई गई और हिन्दी

की स्वतंत्र प्रतिभा के विकास में उतनी बाधा नहीं दी गई।*
निदर्शन के लिए एक दो उद्धरण पर्याप्त होंगे। उदाहरणतः पृ०
[illegible] में जब हम—

किसने है ऐसी पाई
है कौन मंजुतम इतना
अब तक भव समझ न पाया
इसमें रहस्य है कितना।—

आदि प्रचलित गेय पदों के पश्चात् अचानक—

नाना मंजुल कुंज से विलसिता भृंगावली-भूषिता
छायावान लता-वितान-वलिता पाथोज-पुंजावृता
गुंजामाल-अलंकृता तृणगता मुक्तावली-मंडिता
है दूर्वादल-संकुला विपिन की श्यामायमाना मही।

—जैसे लक्कड़ समासजटिल शार्दूलविक्रीड़ितों को पढ़ते हैं तो
अनायास ही शैली की दो विभिन्न धाराओं का भान होता है।
यदि 'प्रियप्रवास' के समान केवल वर्णिक वृत्तों में ही 'पारिजात'
की रचना होती, तो शायद इसे अपकीर्ति ही हाथ लगती।
किन्तु 'पारिजात' में कवि ने वर्णिक वृत्तों का मोह [illegible]
दिया है। यह कवि की सौन्दर्यभावना में एक विकास का परि-
चायक है और इस क्रमिक विकास का [illegible]
'वैदेहीवनवास' में [illegible]
[illegible]
वृत्तों में।

* हिन्दी के [illegible]
[illegible]

जो बात छंदों के संबन्ध में कही गई है वही भाषा के संबन्ध में भी लागू है। 'पारिजात' की भाषा दोरुखी है। जहाँ तो प्रचलित गेय पद्यों में पद्योजना हुई है वहाँ प्राञ्जलता है, प्रवाह है, और है बोधगम्यता; किन्तु जहाँ बड़े बड़े वर्णिक छंदों में रचना हुई है, वहाँ भाषा समास-विशिष्ट हो गई है और हो गई है क्लिष्ट।

अपनी कविताओं के हार को यत्र तत्र शब्द-चमत्कार अथवा अर्थालङ्कार के सुमन-संभार से सजाते चलना भी कवि को इष्ट है। कुछ उदाहरण :—

विनोदिता है सरसी विभूति से
अतीव उत्फुल्ल सरोज-पुंज है
विकासिका है सरसी सरोज की
सरोज से है सरसी सुशोभिता।

—पृ० १११

अथवा—

मधुरता-रसिका कब थी नहीं
मधु-रता-मधु की मधुपावली।

—पृ० ११३

मुहावरों की चटनी से चटपटी भाषा 'हरिऔध' को खास तौर से भाती है। यथा—'प्रपात' को सबोधन करते हुए कवि कहता है—

पानी क्या रखते सदैव तुम तो पानी गँवाते मिले

—पृ० ११६

अथवा—

आलात-चक्र - से कितने
पल पल फिरते दिखलाए

क्या हर चाँद कितनों में
हैं आठ चाँद लग पाए —पृ० २९

गणों की योजना में कहीं कहीं कुछ शिथिलताएँ भी दीख पड़ती हैं। यथा—पृ० १७८ में—

होता है मधु स्वयं मुग्ध किसकी देखे मनोहारिता

अथवा—

नाना-नर्त्तन-कला-केलि-कलिता आलोक-आलोकिता

अथवा—

होती है शशिकला-कान्त रवि की रश्म्यांशु-सी-रंजिता।

इन पंक्तियों में पूर्वार्ध में मात्राओं का त्रुटिपूर्ण समावेश किया गया है क्योंकि 'शार्दूलविक्रीडित' के चरण का लक्षण है—

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। अर्थात् इस छंद में गणों की योजना निम्नलिखित होनी चाहिये—

म स ज स त त ग

किन्तु—उपर्युल्लिखित पंक्तियों में से प्रथम को लिया जाय तो उसमें गणयोजना निम्न प्रकार से की गई है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
हो ता है म धु स्व यं मु ग्ध कि स की दे खे म नो हा रि ता

म [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

निर्माता-मति ज्यों निमित्त वन के है सिद्धिदात्री बनी
सत्ता है जिस भाँति हो विलसती सर्वेश की सृष्टि में ॥

—पृ० २१

इसमें सृष्टि-संचालन के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। इसी तरह 'विभु-विभुता' का विशदीकरण करते हुए कवि ने संसार की सृष्टि की 'अकथ कहानी' बड़े विस्तृत रूप से कही है और—

तारक - समूह - मुहरों का
वह था मंजुलतम थैला —पृ० २५

—आदि पदों द्वारा नेब्यूला (Nebula) के सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा में वैज्ञानिक (Scientist) के रूप में अपने को प्रगट किया है। इस प्रसंग की पूर्णाहुति कवि ने उस निम्न-लिखित शार्दूलविक्रीडित से की है—

दिव्या भूति अचिन्तनीय कृति की ब्रह्माण्ड-माला-मयी
तन्मात्रा-जननी ममत्व-प्रतिमा माता महत्तत्त्व की
सारी सिद्धिमयी विभूति-भरिता संसार-संचालिका
सत्ता है विभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका ॥

—पृ० ३४

—जिसमें वह दार्शनिक, धर्म-प्रचारक और वैज्ञानिक तीनों हैं,—और एक साथ ही। नवयुग-समालोचना के क्षेत्र में कला की दृष्टि से कवि की ऐसी बहुमुखी प्रवृत्ति प्रतिभा का अपव्यय समझी जायगी।

परन्तु, कला की दृष्टि से जो भी मत-वैषम्य हो, किन्तु सुधारवाद की दृष्टि से क्रान्तिमय विचारों के ख्याल से 'हरिऔध' की भावनाएँ नवयुग की भावनाओं से तादात्म्य रखती हैं। उदाहरणत —कवि की 'दिव्य दया मूर्ति' की कल्पना में हम

अवतारवाद का एक नया अर्थान्तर (New interpretation) पाते हैं,–'जय जगदीश हरे' का एक नया संस्करण। कच्छ, मच्छ, वाराहादि भगवानों के स्थान में राममोहन, रामकृष्ण, ईश्वरचन्द्र, दयानंद, रानाडे, रामतीर्थ, तिलक, गोखले, मदनमोहन और मोहनचंद्र का दशक हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। 'जातक-माला'-कार आर्यसूरि* के समान 'हरिऔध' का भी उद्देश्य 'सुधार' में 'सरसता'–सम्पादन करना है—

सुधारों में होवे सुरसरि-सुधा-सो सरसता।

—पृ० ६

'हरिऔध' की भावना का उमंग-भरा 'युवक' भी सुधारवादी है—

हैं समाज-सुख-साधक दुख-बाधक ए
देश-प्रेम-प्रासाद प्रभावित फरहरे॥

—पृ० ७

वह 'नवयुग-अधिनायक' है, 'सुधार-आधार-धरा-पादप' है। स्वार्थपरायण और प्रमादी युवकों के प्रति 'हरिऔध' की सहानुभूति लेश मात्र भी नहीं है।

जिस प्रकार 'प्रियप्रवास' के पात्रों के चित्रण में कवि का आदर्श 'लोकहित' रहा है, उसी प्रकार 'पारिजात' में भी लोकहित को हम केन्द्रीय भावना के पद पर अधिष्ठित पाते हैं। "हितकरी 'हरिऔध'–पदावली" के प्रथम पृष्ठ से ही हम लोकहित की ललित लालसा की कलित कीर्त्ति सुनते हैं—

---

* आर्यसूरि ने 'जातकमाला' को सुन्दर सलोने पद्यों से इसलिये सजाया कि धर्म की बातें रमणीयतर रूप में रक्खी जायँ—

धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।

तो क्यों न लोकहित लालित हो सकेगा
जो लालसा-ललित भाव ललाम होंगे।
तो क्यों अलौकिक अनेक कला न होगी
जो कल्प-वेलि सम कामद कल्पना हो ॥

—पृ० १

कवि की कामना यही है कि—

बंधुभाव वसुधा में फैले।—पृ० ५

और हमारा हृदय—

महामंत्र भवहित को माने।—पृ० ६

तथा

पाठ कर विश्व-बंधुता-मंत्र
बने मानस कमनीय अतीव।
समझ कर सर्वभूत-हित-मर्म
सगे बन जायें जगत के जीव ॥

—पृ० ३३८

कवि की भावुकता में मानवेतर प्रकृति भी लोकहित-लालसा लसित है। उन ओस-बूँदों के मोतियों को देखो वे रजनी-हृदय की कोमल हित-कामनाओं का ही तो रूपान्तर हैं। सरोवर की उन लहरों को देखो वे लोकहित की ही उमंगों से तो उद्वेलित हैं।—

रजनी उर हित की लहरें
जब है रस हास्य उठाती
तब ओस बूँद बन बन कर
मोती-सा है बरसाती ॥

—पृ० ११

पुनश्च—'सरोवर' को लक्ष्य कर के—

तुम्हारे तरल अंक में लग्न
केलिरत हो छवि पाती हैं
लोकहित से लालायित हो
ललित लहरें लहराती हैं ॥—पृ० १०

लोकहित का इतना व्यापक प्रभाव अन्यत्र दुर्लभ है।

लोकहित की ही लगभग समकक्ष जो दूसरी भावना हम 'हरिऔध' के 'पारिजात' में पाते हैं वह है—देशप्रेम। कवि का 'भारत-भूतल' 'जग-वन्दित' है, 'सफलीकृत-वसुधातल' है, 'सुरपुर सम सम्पन्न दिव्यतम सप्तपुरी अधिनायक' है। भवहित के व्यापक क्षितिज को कवि देशप्रेम की स्वर्णिम तूलिका से रंग देगा—

भवहित-पलने में देश-प्रेम-प्रिय-शिशु पले।

—पृ० १

कवि की व्यापक दृष्टि में 'अन्तर-राष्ट्रीयता और देशप्रेम निसर्गतः परस्परविरोधी नहीं हैं। फिर भी कवि अपनी मातृ-भूमि के गान गाते, उसके अतीत का अलख जगाते, नहीं अघाता। देशप्रेम की मस्ती में उसके लिये—

भरत-भूमि समान न भूमि है
अचल हैं न हिमाचल से बड़े
सुरसरी सम है न कहीं सरी
सर न मान-सरोवर-सा मिला ॥ —पृ० ११०

४

प्रकृतिचित्रण

मानवेतर प्रकृति के सौंदर्यांकन की दृष्टि से 'पारिजात' कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रकृति की रूपराशि के चित्रण में कवि की

कल्पना निखर आई है, उसकी भावुकता खिल उठी है। आइये कवि के साथ दृश्य जगत् (तृतीय सर्ग) की सैर कीजिये, अभिनीत 'भव-नाटक प्रकृति-पुरुष का' देख कर आनन्द लीजिये। चन्द्रमा इस नाटक के 'सूत्रधार' का मुख है, चाँदनी की चमक और दामिनी की दमक उसके हास्य और मुसकान हैं; रवि-शशि के कर उसके कर हैं; वेणुस्वरलहरियाँ उसकी वीणाओं की तानें हैं।

'प्रभाकर' शीर्षक कविता प्रकृतिचित्रण का उत्कृष्ट नमूना है। इधर 'लाल रंग में रँगी रँगीली ऊषा आई' उधर—

> आया दिन मणि अरुण बिम्ब में भरे उजाला।
> पहन कंठ में कनक-वर्ण किरणों की माला।
> ....
> पहन सुनहला वसन ललित लतिकाएँ विलसीं
> कुसुमावलि के व्याज बहु विनोदित हो विकसीं।
> जरतारी साडियाँ पैन्ह तितली से खेली
> विहँस विहँस कर वेलि बनी वाला अलबेली॥
>
> —पृ० ४२

'प्रभात के वर्णन में भी कवि की निसर्गसिद्ध भावुकता प्रतिबिम्बित हो रही है।

> प्रकृति वधू ने असित वसन बदला सित पहना
> तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।
> उसका नव अनुराग लाल नभतल पर छाया
> हुई रागमय दिशा निशा ने वदन छिपाया॥
>
> .
>
> ओस बिन्दु ने द्रवित हृदय को सरस बनाया
> अवनी-तल पर बिलस-बिलस मोती बरसाया।

खुलें कंठ कमनीय गिरा ने वीन बजाई
विहग-वृंद ने उमग मधुर रागिनी सुनाई॥

—पृ० ५४-५५

कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनमें कवि प्रकृति की नग्न माधुरी पर लुब्ध न हो कर उसके दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक मर्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उदाहरणतः 'तारकावली' (पृ० ५०) शीर्षक कविता में कवि एक ज्योतिर्विद (Astronomer) के समान हमें तारक-विज्ञान की सीख देने लगता है—

प्रातः या संध्या वेला
यों ही या यंत्रों द्वारा
है क्षितिज पर उगा मिलता
छोटा-सा एक सितारा॥

बुध उसको ही कहते हैं
वह है हरिदाम दिखाता
क्षितितल पर अपनी किरणें
है छटा साथ छिटकाता॥

—पृ० ५१

ऐसे पद्यों में कल्पना का अभाव है और ये 'गद्यीय' (Prosaic)-से मालूम पड़ते हैं।

कुछ प्राकृतिक वर्णनों में अन्य कवियों से भी भावनाएँ ले ली गई हैं। यथा—समुद्र-वर्णन (पृ० १२०-१२१) में कालिदास के 'रघुवंश' की स्पष्ट छाप है!

जब सुरेन्द्र ने परम कुपित हो वज्र उठाया
काट-काट कर पक्ष पर्वतों को कलपाया
परम द्रवित उस काल हृदय किसका हो पाया
किसने बहुतों को स्वअंक में छिपा बचाया॥ पृ० १२२

अथवा

जलते वड़वानल ने किससे जीवन पाया
कौन सुधा-निधि-सा वसुधा में सरस दिखाया ॥—पृ० १२२

इन पद्यों में—

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः
शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो
धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥

अथवा

....

अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्त्ति ।—

(रघुवंश. सर्ग १३)

आदि पद्यों का प्रतिफलन असंदिग्ध है ।

———

(ग) वैदेही-वनवास

१

[illegible]

'वैदेही वनवास' पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की नवीनतम दो रचनाओं में से एक है। यह 'हिन्दी-साहित्य कुटीर' बनारस से प्रकाशित कारुण्य-प्रधान एक 'महा काव्य' है। करुण रस की प्रधानता पर कवि ने कुछ विस्तृत रूप से अपने 'वक्तव्य' में अपने विचार प्रगट किये हैं। उन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि की भावुकता पर कारुण्य कलित कथानक का प्रभाव बहुत तीव्र और गहरा पड़ा है। 'प्रिय-प्रवास' और 'वैदेही-वनवास' दोनों में कारुणिकता ही प्रधान है। 'वक्तव्य' से यह प्रतीत होता है कि करुण रस का व्यापक अर्थ कवि को इष्ट है, न कि संकुचित और पारिभाषिक। इस व्यापक दृष्टि से करुणा, कारुण्य और कारुणिकता—सभी एक ही हैं। विप्रलंभ शृंगार को भी इस दृष्टि से करुण रस का अंगीभूत मान सकते हैं। तभी तो भव-भूति ने कहा है—

> एको रसः करुण एव विवर्त-भेदात्
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।*
>
> —उत्तरचरित। ३। ४७।

'वैदेही-वनवास' पर भवभूति के 'उत्तररामचरित' की छाया स्पष्टरूप से दीखती है। आलोचना की दृष्टि से इसकी कथावस्तु संक्षेप में नीचे दी जाती है।

---

* कुछ टीकाकारों का यह मत है कि इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि करुण रस भिन्न भिन्न रसों में परिणत होता है, बल्कि यह कि आलम्बन आदि-भेद से करुण रस ही कई रूपों में प्रगट होता है।

२

कथावस्तु

१ म सर्ग

अयोध्या नगरी में सरयू के किनारे एक रम्य उपवन में ऊषा की लजीली किरणों की मुसकान की आनन्दानुभूति में निमग्न दम्पती राम और सीता परस्पर संलाप और मनोविनोद में लगे हुए हैं। अकस्मात् कोमल हृदय जनकनन्दिनी के मानस-मुकुर पर स्वर्णपुरी लंका के भीषण दहनकाण्ड के दारुण दृश्य की छाया आ पड़ती है। गर्भवती सीता की इस मानसिक विकृति को अनुपादेय जान रामचन्द्र भिन्न भिन्न तर्कों से उसका परिशोध करते हैं और सामोद सीता-सहित सदन सिधारते हैं।

२ य सर्ग

राम अपनी चित्रशाला के चित्रों की अनुपम छवि निहारने में विभोर हैं कि राज्य का एक गुप्तचर यह संवाद लाता है कि एक रजक अपनी स्त्री से झगड़ते हुए यह बोला कि—

चली जा हो आँखों से दूर
अब यहाँ क्या है तेरा काम
कर रही है तू भारी भूल
जो समझती है मुझको राम।
रहीं जो पर गृह में दस मास
हुई है उनकी उन्हें प्रतीति
यहां की कहीं बात है किन्तु
बाधित करता है यह नीति।

राम को सोच यह है कि जो सती सीता अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी हैं उनके संबन्ध में यह अपकीर्त्ति क्यों ! फिर भी अपकीर्त्ति अपकीर्त्ति ही है।

३ य सर्ग

राम अपने भाइयों के संग मंत्रणागृह में बैठे हुए हैं। लोकापवाद की समस्या छिड़ी है। भरत रजक की बकवृत्ति अथवा उलूक-वृत्ति की तीव्र आलोचना करते हैं—

फूटती है उलूक की आँख
दिव्यता दिनमणि को अवलोक।

लक्ष्मण भी क्रोध से तमतमा उठते हैं—

चाहता है यह मेरा जी
रजक की खिंचवा लूँ रसना।

भाइयों ने यह भी कहा कि संभवतः इस कलंक की जड़ में लवणासुर और उसके सहायक वे उत्पाती गन्धर्व हैं जिनका विनाश केकय-राज के हाथों हुआ है—यह अपवाद उन्हीं का फैलाया हुआ है।

किन्तु रामचन्द्र की आत्मा को शान्ति नहीं मिली। लोकाराधन की वेदी पर अपनी प्रिया की प्रियाकांक्षा की बलि देना उन्होंने निश्चित कर लिया था।

४ र्थ सर्ग

रामचन्द्र जी ने गुरुदेव वशिष्ठ से मंत्रणा ली और यह तय पाया कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ही सीता का निवास श्रेयस्कर होगा।

५ म सर्ग

इधर चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना ने बादलों का घूंघट डाल लिया, इधर क्षण भर के लिए जनकनन्दिनी के मुख पर भी

रामचन्द्र के दारुण निश्चय की कालिमा छा गई। किन्तु पति के लोकाराधन और शमन-नीति का विचार करती हुई सीता ने प्रण कर लिया कि—

यदि कलंकिता हुई कीर्ति तो मुँह कैसे दिखलाऊँगी।
जीवनधन पर उत्सर्गित हो जीवन धन्य बनाऊँगी॥

फलतः दोनों की राय से गर्भावस्था में आश्रमवास का प्रगट बहाना ढूँढ़ा गया जिसमें साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे।

६ ष्ठ सर्ग

माता कौशल्या और फिर उर्मिला, श्रुतकीर्ति और माण्डवी—सबों के हृदय पिघल पड़े हैं। षष्ठ सर्ग की पंक्ति पंक्ति इनकी कातरोक्तियों से द्रवित हो उठी है। रामचंद्र प्रवेश करते हैं और बहनें विदा होती हैं।

७ म सर्ग

आनन्द और उत्सव के साथ सीता लक्ष्मण के साथ प्रयाण करती हैं। सीता के हृदय में विकलता नहीं है, बल्कि भव-हित-साधन और विश्व-प्रेम की लालसा ने उनकी वियोग-व्यथा को कुंठित कर रक्खा है। क्रमश गोमती-तीर आ पहुँचा।

८ म सर्ग

प्रात काल का सुंदर सुहावना समय! आश्रम के एक कुटीर मे सीता-सहित लक्ष्मण प्रवेश करते है और मुनिवर वाल्मीकि उन्हे सान्त्वना देते है। इधर जनकसुता ने आश्रम मे वास किया उधर लक्ष्मण ने अवधपुरी की ओर प्रयाण।

यामिनी धवल-बूटा से सजी काली चादर ओढ़ कर बैठी थी। राम के हृदय मे विकलता ने घर कर लिया था। इसी अन्तर में लक्ष्मण का आगमन होता है और वे माता के [illegible]

पहुँचाने और आश्रमवास की सूचना देते हैं तथा साथ ही साथ पति के प्रति उनका सन्देश कह सुनाते हैं।

१० म सर्ग

शरच्चन्द्र की चन्द्रिका अपनी अनन्त रूप-राशि तपोवन में बिखेर रही थी। शान्ति-निकेतन के आगे शिला-वेदिका पर बैठी तपस्विनी सीता के हृदय में अनेकानेक अतीत स्मृतियाँ सजग हो रही थीं। उन्होंने घंटों चाँदनी से बातें कीं और उसी-जैसी भव-हित-साधिका और पवित्र बनी रहने का प्रण किया।

इतने में घंटा वजा उठा आरती-थाल।
द्रुत गति से महिला गई मंदिर में तत्काल॥

११ श सर्ग

लवणासुर-वध की आज्ञा पाकर उस कार्य के सम्पादन के उद्देश्य से निकले हुए शत्रुघ्न आते हैं और आश्रम में सीता से मिलते हैं। परस्पर कुशल-प्रश्नों के उपरान्त—

पगवन्दन कर ले विदा गए दनुज-कुल-काल।
इसी दिवस सिय ने जने युगल-अलौकिक-लाल॥

१२ श सर्ग

क्रमशः राजकुमारो का नामकरण सस्कार होता है और वे कुश और लव के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। वन-उपवन तक आनन्दोल्लास में मग्न हैं।

१३ श सर्ग

पुत्रों के लालन-पालन के भार ने भी सीता को लोक-हित से विमुख नहीं किया है। इसी बीच एक दिन आत्रेयी आती हैं और सीता को सान्त्वनाएँ और सदुपदेश देती हैं।

१४ श सर्ग

ऋतुराज वसन्त ! प्रभात की प्रभा ! पंचवर्षीय लव और कुश कभी तितलियों के पीछे दौड़ते तो कभी कोकिल की काकली सुन कर किलकते ! इसी समय विदुषी-ब्रह्मचारिणी विज्ञानवती आती हैं और विवाह-बन्धन की आध्यात्मिकता पर वार्त्तालाप होता है। उनके विचार से विवाह-सूत्र अविच्छेद्य है और विवाह का भौतिक दृष्टिकोण ही लंका के विध्वंस का कारण हुआ। विवाह की आध्यात्मिकता के साथ ही भव-हित-परायणता का सामञ्जस्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

१५ श सर्ग

इस सर्ग में सुतवती सीता जाह्नवी के तट पर उसकी प्रत्येक भाव भंगि की ओर अपने पुत्रों का आकर्षित करती हैं। और उनके जीवन के लिये कोई निष्कर्ष निकालती हैं। कुछ देर ठहर कर वहाँ से चली जाती हैं।

१६ श सर्ग

लव-कुश बारह वर्ष के हो चले हैं। सायंकाल मधुर स्वर से रामायण का गान हो रहा है। इसी समय उनके पितृव्य, शत्रुघ्न आते हैं और अवधपुरी के अश्वमेध के समारोह की सूचना देते हैं और फिर विदा लेते हैं।

१७ श सर्ग

शम्बूक वध के उद्देश्य से रामचन्द्र जनस्थान जाते हैं और वहाँ पंचवटी पहुँचते ही आत्म विस्मृत-से हो जाते हैं। सारी अतीत और मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर दौड़ जाती हैं, और उन्हें कुछ मधुर उपालम्भ देती हैं। रामचन्द्र लोकहित व सिद्धान्त के [illegible] का आकर्षण दूर करते हैं।

१८ श सर्ग

शीतकाल का ठिठका हुआ प्रभात! अश्वमेध में जनक नन्दिनी भी आने वाली हैं। वाल्मीकि के साथ उनका प्रवेश होता है। स्वयं रामचन्द्र उनकी अगवानी को जाते हैं किन्तु—

ज्यों ही पति-प्राणा ने पति-पद-पद्म का
स्पर्श किया निर्जीव-मूर्ति-सी बन गईं।
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का
दिव्य ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥

—:०:—

उपरिलिखित संक्षित कथावस्तु के साथ 'प्रियप्रवास' के 'प्लाट' (Plot) की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'वैदेही-वनवास' में कथानक की गतिशीलता अपेक्षाकृत अधिक है। यह नहीं कि 'प्रियप्रवास' के समान कथानक कुछ दूर चल कर पंगु हो गया हो और फिर सर्ग के बाद सर्ग बस एक ही विषय—करुण - क्रन्दन. और एक ही सिलसिला—ऊधो के प्रति दृश्य अथवा अदृश्य रूप से सम्बोधन! हां, सूक्ष्मतर घटनांशों की कमी अवश्य खटकती है। उदाहरणतः, सीता के वाल्मीकि के आश्रम तक पहुँचने का जो वर्णन है उसमें यत्र तत्र न जाने कितनी घटनाएँ पिरोई जा सकती थीं—नदी तीर, तीर पर का केवट, मार्ग की गोपवधूटियां, वन्य जातियां और उनका कुतूहल, मृगों की मचल—न जाने कितनी! ऐसी घटनाएँ वर्णन को मानवीय सजीवता और यथार्थता से अभिमंत्रित कर देतीं। किन्तु 'हरिऔध' यत्र तत्र प्रकृति के किसी एक रूप के सौंदर्य के अंकन से ही संतुष्ट हो गए। ऐसा अंकन कथानक का सहायक भले ही हुआ हो, किन्तु उसके

ताने-बाने में अविश्लेष्य रूप से बुना नहीं जा सका है। एक कालिदास या तुलसीदास कथानक की जीवनशीलता से इतने तटस्थ नहीं रह सकते थे।—वे उसी में घुल-मिल जाते, उससे अपना तादात्म्यसम्बंध स्थापित कर लेते।

२

आदर्शवाद और सुधारवाद

कवि ने भूमिका के ६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—

'महाराज रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम, लोकोत्तर-चरित और आदर्श नरेन्द्र अथ च महीपाल हैं, श्रीमती जनकनन्दिनी सती-शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्यबाला हैं। इनका आदर्श आर्यसंस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महनीय विभूति है, और है स्वर्गीय-संपत्ति-सम्पन्न। इसलिये इस ग्रन्थ में इसी रूप में इसका निरूपण हुआ है। सामयिकता पर दृष्टि रख कर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धि-संगत बनाने की चेष्टा की गई है।'

इन पंक्तियों से हम कवि की मनोवृत्ति का परिचय साफ तौर से पाते हैं—वह यह कि वे हमारी पुरातन आर्य-संस्कृति के आदर्श को सामयिकता के रंग में रंग कर प्रस्तुत करना चाहते हैं जिससे हम अपने वर्तमान जीवन के लिये निदेश ले सकें। इस मनोवृत्ति का प्रथम [illegible] परिणाम हुआ है तुलसी-सम्मत कथानक में परिवर्तन। तुलसी ने रजकद्वारा अपवाद सुनने पर किस प्रकार राम के द्वारा जनकसुता के त्याग का निरूपण कर दिया और किस प्रकार [illegible] से [illegible] दिया गया, इन सब प्रसंगों का [illegible] किया है जिससे राम सीता [illegible] के चरित्रों पर एक महान [illegible] हुआ है। कालिदास और भवभूति द्वारा न तुलसी

से कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक ढंग से उस प्रसंग का अंकन किया है। कालिदास ने लिखा है कि आत्म-निन्दा सुनने पर रामचन्द्र का हृदय मानों जलते लोहे के समान घन से चोट खा कर चूर चूर हो गया। * निर्दोष जाया का त्याग एक ओर, अपकीर्त्ति दूसरी ओर,—दोनों के बीच पड़े हुए रामचन्द्र की विकलता अवर्णनीय थी। † अतएव इस विषम परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए उन्हें झूठे बहाने से सीता को त्यागना पड़ा। ‡ सीता को क्या मालूम था कि उनका पति कल्पवृक्ष न हो कर असिपत्रवृक्ष हो चुका था। § अन्त में जब लक्ष्मण ने बड़ी विनय के साथ सच्ची बात कही तो सीता मूर्च्छित हो गई किन्तु फिर शीघ्र ही जिस धीरता और आत्म-संयम के साथ रामचन्द्र को संदेश भेजे वे भारतीय सतीत्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं।

भवभूति ने आरंभ में ही अष्टावक्र के द्वारा रामचन्द्र को वशिष्ठ का यह अनुशासन दिलवाया है कि प्रजाओं के अनुरंजन

---

* कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्त्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे।

रघुवंश। १४। ३३

† किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः।

रघु०। १४। ३४

‡ स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्।

—रघु०। १४। ४५

§ नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्।

—रघु०। १४। ४८

उन्हें मूर्छित ही छोड़ कर वन से चले भी जाते हैं :—

जागी सिया सकल दिसि देखा।
नहिं रथ अश्व नहीं कहि शेषा॥

जब वाल्मीकि ऋषि आते हैं तो सीता जी अपनी इस दयनीय दशा का इजहार करती हैं—

मुनि ! पुत्री मैं जनक की, रामप्रिया जग जान।
त्यागन हेतु न जानु कछु, विधि गति अति बलवान॥

किन्तु 'हरिऔध' ने इस दिशा में महती क्रान्ति की है। उन्हें सीता-जैसी सच्ची सती और मनस्विनी को झूठे बहाने से वन भेजना न तो उनके लिये ही उचित जँचा और न राम ही के लिये। अतः 'हरिऔध' के राम ने स्पष्ट रूप से सीता से अपना निश्चय राजभवन में ही कह डाला और मनस्विनी सीता ने उसे सोच समझ कर अपनी स्वार्थलिप्सा पर लात मार कर उसे शिरोधार्य कर लिया। राम ने असंदिग्ध शब्दों में प्रगट कर दिया था कि—

इसी सूत्र से वाल्मीकाश्रम में तुमको मैं भेजूँगा।
किसी को न कुत्सित विचार करने का अवसर मैं दूँगा॥

—२ | ३६

हमारा निजी विचार है कि जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में कैकेयी को उदात्त रूप में चित्रित कर के साहित्यिक और आध्यात्मिक जगत में एक क्रान्ति की है, उसी प्रकार 'हरिऔध' ने भी 'वैदेही-वनवास' में वैदेही को वनवास की परिस्थितियों से आरंभ से ही जानकार बना कर साहित्यिक और आध्यात्मिक जगत के एक महान क्रमागत लाञ्छन का परिमार्जन किया है।

'प्रियप्रवास' के समान ही 'वैदेही-वनवास' में कवि हमें एक सुधारवादी के रूप में प्रकट होता है। रामचन्द्र के चरित्र द्वारा वह हमारे सामने एक आदर्श नृप का रूप प्रस्तुत करना चाहता है। कवि का राम लोकापवाद को अनसुना नहीं कर सकता। उसका तो यहाँ तक निश्चय है कि—

पठन कर लोकाराधन-मंत्र
करूँगा मैं इसका प्रतिकार
साध कर जग-हित-साधन-सूत्र
करूँगा घर घर शान्ति-प्रसार। ३। ९७
करूँगा बड़े से बड़ा त्याग
आत्मनिग्रह का कर उपयोग
हुए आवश्यक जन-सुख देख
सहूँगा प्रिया-असह्य-वियोग। ३। ९९

नवम सर्ग में लक्ष्मण से अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए राम ने कहा है कि लोकहित की क्षति करके अपना हित-साधन पशुता है और—

सर्वहित परहित स्वहितता का ध्यान रख
कर लेना निज स्वार्थ-सिद्धि है मनुजता। ९। ५६

अतएव राजा के लिए—

है प्रधान कृति इसका [illegible] ९। ५८

राजनीति का मैं विरोध कैसे करूँ
राजनीति को वह करती है गौरवित।
लोकाराधन ही प्रधान नृप-धर्म है
किन्तु आपका व्रत विलोक मैं हूँ चकित॥—४।४८

'हरिऔध' ने सीता के चरित्र को भी आदर्शवादी की सुनहली तूलिका से चित्रित किया है। रामचन्द्र के निदेश को वे ठंढे दिल से स्वीकार करती हैं। यदि संसार का इसी में भला है कि वह परित्यक्ता का जीवन व्यतीत करें, तो ऐसा ही हो। पति का व्रत ही पतिव्रता का व्रत है। पति की कर्त्तव्य-परायणता में वे बाधा बन कर नहीं खड़ी होंगी। वे कहती हैं—

कर सद्व्रत सच्चे जी से
मुझमें निर्भयता होगी
जीवन-धन के जीवन में
मेरी तन्मयता होगी। ५। ५७

अपने हृदय के सम्बन्ध में उनका यही निश्चय है कि—

सदा करेगा हित स्वभूत का
न लोक आराधन को तजेगा
प्रणय-मूर्त्ति के लिये मुग्ध हो
आर्त्त-चित्त आरती सजेगा। ७। .८

आरंभ से ही सीता दयालुहृदय थीं। वनवास के पूर्व भी जब वे कभी राजभवन से चलती थीं तो विपुल सामग्रियाँ साथ ले लेती थीं और दीनों हीनों को दान दे देती थीं (६। ३३-३४) आश्रमवास के समय भी पशु-पक्षियों और कीटों तक को उन्होंने करुणा की मकरन्दवृष्टि से आप्यायित किया है (१२। ११)। राधा के समान सीता भी प्रणय की ओर न कि मोह की ओर, विश्व प्रेम की ओर न कि स्वार्थसाधना की ओर,

वर्त्तमान युरोपीय देशो के विवाह-विच्छेद (Divorce) की ओर मानो संकेत करते हुए कवि ने यह बतलाया है कि लंका में विवाह की पवित्रता नहीं समझी गई, उसे वासना और भौमिकता के आधार पर ही स्थापित किया गया। और परिणाम।—

इन्हीं पापमय कर्मों के अतिरेक से
ध्वंस हुई कंचन-विरचित लंकापुरी।
—१४। १४१

सीता के आदर्श चरित्र ने आश्रम पर भी अपना प्रभाव डाला। वहां पर कुछ ऐसी ब्रह्मचारिणियां थीं जिनके हृदय में वासना और भौतिकता का साम्राज्य था। किन्तु सती सीता के 'लोकोत्तर आदर्श' ने उनको बुरी वृत्तियो का परिशोधन कर दिया (१३। ७०)।

सारांश यह कि कवि ने सीता का चरित्र सर्वत्र इस रूप से अंकित किया है कि जिसमें संसार के सामने एक आदर्श पेश किया जा सके। कलाकार 'हरिऔध' सुधारवादी 'हरिऔध' से वियोजित नहीं किया जा सकता।

४

शैली

शैली और उसके उपादानो की कुछ विस्तृत चर्चा मुख्य पुस्तक में की जा चुकी है। यहां सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'वैदेही-वनवास' की शैली 'प्रियप्रवास' की शैली से बिलकुल भिन्न है। संस्कृत के विकट, वर्णिक वृत्त, क्लिष्ट संश्लिष्ट पदावली,—'प्रियप्रवास' का दूषण एक भी नहीं, और भूषण सभी! अलंकार सीधे-सादे और बोध-गम्य हैं। यथा—

यदि यह जड़ है तो चेतन क्यों चेत न पाया।
—१। २६

ललित अनुप्रास विशिष्ट पदों की कमी नहीं है। यथा—

रख मुंह-जाली लाल-लाल-कुसुमालि से
लोक ललकते लोचन में ये लस रहे। १४। ८

शैली के सामूहिक रूप से यह भी प्रतीत होता है कि जहाँ तहाँ चुस्त-कुल मुहावरे कवि को इष्ट हैं, यद्यपि मुहावरों के प्रयोग की उपादेयता में कहीं कहीं मतभेद भी हो सकता है। यथा निम्नलिखित पंक्तियों में—

मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं
पखा दूं कुजनों की बाई
एक दूं ढोल ढाल कर के
दुरधि उर की पुलिन काई। ३। ६६

'वैदेही-वनवास' की शैली में जो भी त्रुटि हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शैली के क्षेत्र में यह 'प्रियप्रवास' के पाप का प्रायश्चित है और हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा के अनुकूल है।

बादल के नभ में छाये
बदला था रंग समय का
थी प्रकृति भरी करुणा में
कर उपचय मेघ-निचय का ।११।१

और अन्त में हम पाते हैं कि सीता ने इसी सुखद समय में अपने 'युगल-अलौकिक-लाल' जने ।

इसके विपरीत अष्टादश सर्ग में हम आरंभ से ही प्रकृति को एक विकृत रूप में पाते हैं । शीतकाल ! कुहराच्छन्न वायुमंडल !

प्रकृति-वधूटी रही मलिन-वसना बनी
सकती थी न खोल मुंह मुसकुरा । १८ । १

यह वर्णन हमें उस दारुण दृश्य के लिये पहले ही से प्रस्तुत कर देता है जिसमें सीता का अपने पति से क्षणिक मिलन शाश्वत वियोग में परिणत हो गया ।

ज्यों ही पति-प्राणा ने पति-पद-पद्म का
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति-सी बन गई ॥

प्रारम्भिक वक्तव्यों
की
विषय-तालिका

अवतरण

महाकवि 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य से हिन्दी साहित्यिक जगत् पूर्ण रूप से परिचित है। वर्त्तमान युग की खड़ी हिन्दी ने जो प्राथमिक विभूतियाँ—अरुणिमा की स्वर्णिम रश्मियाँ—उपहार में दी हैं उनमें 'प्रियप्रवास' का स्थान अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'हरिऔध' की काव्यकला और काव्यादर्श को हमारा नवीन युग बहुत पीछे छोड़ चुका है। परंतु फिर भी 'हरिऔध' उन इने-गिने पुराने महारथियों में हैं जिन्होंने इस नवीन युग का साथ कभी नहीं छोड़ा है, जिन्होंने अपनी भावनाओं को बदलते हुए जमाने के अनुरूप रंजित किया है और जिसके साथ सासपदीन भी निबाहा है। वे वर्त्तमान युग की साहित्यिक लड़ी में मध्यम कड़ी (Middle link) के समान हैं। यही कारण है कि हमने 'हरिऔध' और उनकी कविता को अभी तक अपना कण्ठहार बना रक्खा है। हम पर उनके ऋण का बोझ है और उनकी प्रेम-साधनाएँ, सदिच्छाएँ और शुभ-कामनाएँ ही हमें इस ऋण का प्रतिशोध करने में समर्थ करेंगी।

'हरिऔध' की नवीन युग के प्रति जो सहानुभूति है वह किसी से छिपी नहीं है। उन्होंने कुछ अन्य लब्धप्रतिष्ठ वयस्क साहित्यिकों के असदृश नवयुग की छायावादी कविता का खुले दिल से स्वागत किया है उनकी हितकामना की है। फलतः, आज का तरुण हृदय बड़े आदर और गौरव के साथ 'हरिऔध' का स्मरण करता है और करेगा।

पूर्वरंग

१—प्रारंभिक परिचय

जैसा पिछले पृष्ठ में कहा जा चुका है, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' उन इने-गिने पुराने साहित्य-महारथियों में से हैं जिन्होंने प्रगतिशील हिन्दी के वर्त्तमान युग में भी अपनी कीर्त्ति अक्षुरण रक्खी है। जहां एक ओर वे हरिश्चन्द्र-युग और द्विवेदी-युग की याद दिलाते हैं, वहां दूसरी ओर उन्हें वर्त्तमान छायावादी अथवा क्रान्तिमूलक साहित्य से भी पूरी सहानुभूति है।

निज़ामाबाद में वैशाख कृष्ण ३या, सं० १९२२ वि० में उनका जन्म हुआ था। पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय तथा माता का नाम रुक्मिणी देवी था। पिता से भी अधिक साहाय्य और संरक्षण उन्हें अपने विद्वान ज्योतिषी चाचा पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय से मिला। चाचा जी स्वयं पुत्रहीन थे और अतः उनके हृदय का वात्सल्य-स्रोत 'हरिऔध' में ही केन्द्रित हो गया। लगभग पांच वर्ष की अवस्था में अयोध्यासिंह उपाध्याय का विद्यारम्भ स्वयं उनके सुयोग्य चाचा ने करा दिया। दो साल बाद वे स्थानीय मिडिल स्कूल में भर्ती करा दिये गए और वहां से पास होने पर अंग्रेज़ी की शिक्षा के ख्याल से बनारस क्वीन्स कौलेज में प्रविष्ट हुए। किन्तु दुर्बल स्वास्थ्य के कारण बनारस की पढ़ाई स्थगित करनी पड़ी और घर ही पर मुख्यतः संस्कृत और फारसी की पढ़ाई का सिलसिला शुरू हुआ। अवस्था लगभग १७ वर्ष की हो चली थी और शीघ्र ही विवाहबन्धन ने आ घेरा। अब तो जीविका की भी चिन्ता हुई। उपाध्याय जी वहीं तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त
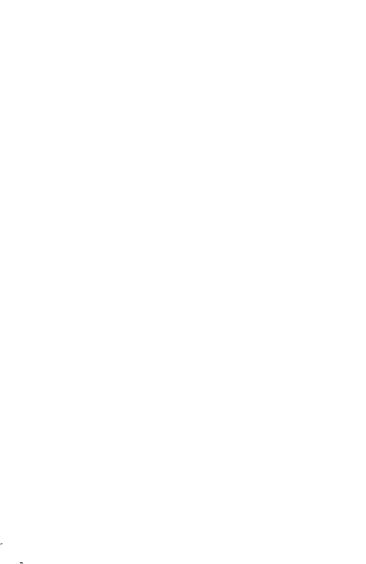
'बातचीत' (भूमिका) के २६ वें पृष्ठ का अवलोकन करना होगा जिसमें उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वर्गीकरण' दिया है। उनके मतानुसार हिन्दी के निम्नलिखित विभाग हो सकते हैं—

(अ) ठेठ हिन्दी—वह हिन्दी जो केवल तद्भव शब्दों द्वारा लिखी गई हो और जिसमें संस्कृत के अप्रचलित तत्सम शब्द और अन्य भाषा के शब्द बिलकुल न हों।

(आ) बोलचाल की हिन्दी—वह ठेठ हिन्दी जिसमें अन्य भाषा के शब्द हों भी, तो सर्वसाधारण की बोलचाल में हों और जो हिन्दी के तद्भव शब्दों के समान ही व्यापक हों। 'हिन्दुस्तानी' का भी आदर्श सामान्यतः यही है।

(इ) सरल हिन्दी—वह ठेठ हिन्दी अथवा बोलचाल की हिन्दी जिसमें कुछ थोड़े से अप्रचलित संस्कृत तत्सम शब्द भी सम्मिलित हों और जो एक प्रकार से सर्वसाधारण की बोधगम्य हो।

(ई) उच्च हिन्दी—वह सरल किन्तु संस्कृत गर्भित हिन्दी जिसमें संस्कृत शब्दों की अधिकता और तद्भव शब्दों से तत्सम शब्दों का अपेक्षाकृत बाहुल्य हो।

(अ) इनमें प्रथम जो ठेठ हिन्दी है उसके रूप की विवेचना कवि ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के उपोद्घात में की है। इंशा अल्लाखाँ के 'हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले' वाले आदर्श का अनुसरण करते हुए कवि ने जो 'परिभाषा' ठेठ हिन्दी की दी है वह यह है— जैसे शिक्षित लोग आपस में बोलने चालते हैं भाषा वैसी ही हो, गँवारी न होने पावे उसमें दूसरी भाषा अथवा फ़ारसी तुर्की अंगरेजी इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप या अपभ्रंश रूप से न हो, भाषा

अपभ्रंश संस्कृत शब्दों से प्रयुक्त हो, और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आये भी तो वही जो अत्यन्त प्रचलित हो, और जिसको एक साधारणजन भी जानता हो।"

इस शैली के उदाहरण के लिये उनकी 'ठेठ हिन्दी में लिखी गई एक मन लुभाने वाली कहानी'—अधखिला फूल—से एक उद्धरण दिया जाता है—पृ० ११७ :—

गद्य—बारहवीं पंखड़ी :—

बासमती—"बेटी! ..... . चमेली खिल गई है, भँवर कहाँ है? तारों से सज कर रात की छवि दूनी हो गई है, पर उसका मुँह उजला करने वाला चाँद कहाँ है? तुम्हारा जोबन बन का फूल हो रहा है, जो सुनसान बन में खिलता और वहीं कुम्हिला जाता है।"

पद्य—'देवबाला' से—पृ० २४ .—

मौंर तू कही न मानी बात।
बेर बेर इनहीं फूलन पै आइ आइ मड़रात॥
मौंरी कही मानती मेरी तू तो है मतवारो।
कानन पारि न सुनत याहि ते नेकौ बैन हमारो॥

ठेठ हिन्दी का स्वरूप निर्णीत करके फिर उसी की तंग गली से फूंक फूंक कर चलना 'हरिऔध' के ही बूते की बात है।

(आ) ठेठ हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में विशेष अन्तर नहीं। अन्तर यही कि बोलचाल की हिन्दी अधिक व्यापक है और प्रचलित विदेशीय और विभाषीय शब्दों को भी शरण देने को तैयार है। इसे वर्त्तमान 'हिन्दुस्तानी' के आदर्श का पूर्वरूप समझा जा सकता है। 'हरिऔध' के हाथों यह बोलचाल की हिन्दी दो विशिष्ट रूपों में निखरी है—

(क) मुहावरेदार चटपटी हिन्दी—'हरिऔध' को मुहावरों से विशेष प्रेम है। 'चुभते चौपदे' की 'दो दो बातें' में उन्होंने लिखा है कि—"नमक मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है। गढ़ी और सीधी-सादी बातें भी एक-सी नहीं होतीं; चौपदे और बोलचाल की भाषा में अगर कुछ भेद है तो यह ही।" उदाहरण के लिये—गद्य :—

"आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा हुआ खड़ा अनबन भी बन आई है और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।"

पद्य :—

आँख उनकी राह में देवें बिछा
प्यारवाली आँख से उनको लखें
आँख जिससे जाति की ऊँची हुई
आँख पर क्या, आँख में, उनको रखें।

(ख) सीधी सादी मिश्रित चलती हिन्दी :—

"आज मैं कचहरी से आ रहा था। एक चपरासी मुझे राह में मिला। उसने कहा—आप से तहसीलदार साहब नाराज हैं... ...आप चले जाइये... ...नहीं तो सजन कलर काट देंगे।

('बोलचाल की बातचीत')

(ग) सरल हिन्दी वह है जो 'ठेठ' और 'बोलचाल'—इन दोनों के मेल से बनी हुई हो, किन्तु इसमें संस्कृत के तत्सम शब्द कुछ अधिक हों। सरल हिन्दी ठेठ और शुद्ध हिन्दी के बीच का स्टेशन-सा है। यथा—

"तुम [illegible] सम्पत्ति नहीं, किन्तु तुम्हारे [illegible] कर करो।

—[illegible]—पृ० [illegible]

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

—: ※ :—

लेखक

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० (त्रितय)

पटना कालिज, पटना

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

[सस्करण]

१९४०

[मूल्य]

कवि भी हुए हैं जो सुधार की भावना से प्रेरित हुए थे। उदाहरणतः भिखारीदास (कविता-काल-१७८५-१८०७) ने परकीया के शृंगार को रसाभास मान कर स्वकीया की ही ऐसी व्यापक परिभाषा दी कि परकीया भी स्वकीया में शुमार हो सके। यथा—

श्रीनारिन के मौन ते, सीलवतिनी और।
तिन्हूँ को सुकियाहि में, गनै सुकवि सिरमौर॥

उसी प्रकार उन्होंने नाइन, धोबिन आदि का शृंगाररस वर्णन करते हुए भी 'जातिविलास' में उन्हें आलंबन विभाव अर्थात् नायिका के रूप में न रख कर दूती के रूप में रक्खा है। 'हरिऔध' ने इस क्षेत्र में एकबारगी क्रान्ति की है। 'रसकलस' में उत्तम प्रकृति की नायिकाओं के भेदों का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने निम्नलिखित नायिकाओं का उल्लेख किया है—

पतिप्रेमिका
परिवारप्रेमिका
जातिप्रेमिका
देशप्रेमिका
जन्मभूमिप्रेमिका
निजतानुरागिनी
लोकसेविका
धर्मप्रेमिका।

हम इनमें से उन नव-निर्मित नायिकाओं का उपलक्षण-मात्र कवित्त वर्णन देंगे जिनको हमारी ऐंद्रयुगीन भावना विशेषरूप से पसंद करेगी, और जो सचमुच रीति-ग्रन्थों के लिये नव निधि हैं।

'हरिऔध' मोहकता हेरि मोहि मोहि जाति
जनता अनाविलता में है मन रमता
महनीय-महिमा निहारि महती है होति
ममतामयी की मातृमेदिनी की ममता।

निमतानुरागिनी:—

बसन-बिदेसी की बसनता बिसरि सारी
बिबस बने हूँ देसी-बसन बिसाहै है
समता बिचार मैं असमता-बिपुल देखि
पति-प्रीति ममता को परखि उमाहै है
'हरिऔध' परकीयता को परकीय जानि
सकल स्वकीयता को सतत सराहै है
भारत की पूजनीयता को पूजनीय मानि
भारतीय - बाला भारतीयता निबाहै है।

लोकसेविका:—

सेवा सेवनीय की करति सेविका समान
सेवन और सेवनीयता ते सँवरति है
सधवा को सोधि सोधि सोधनि सुधारति है
बिधवा को बोधि बोधि बुधता बरति है
'हरिऔध' धोवति कलंकिनी-कलंक-अंक
बंक-मति बंकता असंकता हरति है
आनंदित होति करि आदर अनिंदित को
निंदित की निंदनीयता को निंदरति है।

धर्मप्रेमिका:—

भजनीय-प्रभु के भजन किये भाव साथ
भजनीय-जन के भजन काज तरसे

प्रस्तावना

प्रोफेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, शास्त्री, एम० ए० (त्रितय) ने 'प्रियप्रवास'-जैसे आधुनिक महाकाव्य पर निष्पक्ष तथा विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखकर समालोचना-जगत को एक नई भेंट दी है। जो पुस्तक कई विश्वविद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं की परीक्षाओं में पाठ्य रूप में निर्धारित है उस पर किसी प्रामाणिक आलोचना-ग्रन्थ का अभाव खटकता था। 'गिरीश' की पुस्तक में 'हरिऔध' की सामान्य आलोचना अवश्य है, परन्तु जिस 'प्रियप्रवास' के कारण 'हरिऔध' को हिन्दी-संसार ने सर-आंखों पर चढ़ाया उस पर उसमें न्याय नहीं किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक ने 'परिशिष्ट' में 'हरिऔध' की दो नूतन रचनाओं—'पारिजात' 'और वैदेही-वनवास'—की संक्षिप्त आलोचनाएँ दे कर इसका महत्व और भी बढ़ा दिया ३। आशा है मेरे प्रिय शिष्य और बिहार के इस उदीयमान क की इस रचना का साहित्यिक-संसार हृदय से स्वागत रेगा।

अक्षयवट मिश्र,
रिटायर्ड प्रोफेसर,
पटना कालिज।

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

विषय-सूची

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

१. काव्यगत विशेषताएँ

(क) महाकाव्य

'हरिऔध' ने 'प्रिय-प्रवास' की जो भूमिका लिखी है उसके 'विचार-सूत्र' से यह पता चलता है कि वे बहुत दिनों से एक काव्यग्रंथ लिखने को 'लालायित' थे और इसी लालसा से प्रेरित होकर उन्होंने 'प्रियप्रवास' के प्रियप्रयास द्वारा मातृभाषा के चरणों में पुष्पोपहार समर्पित किया। साथ ही साथ जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की सारी कृतियों में उनके धार्मिक और भक्तिप्रवण हृदय की भावुकता भी प्रतिबिम्बित दीखती है, उसी प्रकार 'हरिऔध' ने भी 'प्रियप्रवास' के निर्माण द्वारा अपनी भगवद्भक्ति की भावना को अभिव्यक्त किया है। सम्भवत इसी को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है कि उनका यह प्रयास स्वान्तःसुखाय है।

इसके अतिरिक्त यह भी परिलक्षित होता है कि हरिऔध ने हिन्दी की तत्कालीन दरिद्रता पर तरस खाकर अपनी कलम उठाई। यह दरिद्रता उनकी दृष्टि में तीन प्रकार की थी। प्रथम तो उस समय के जो भी हिन्दी के काव्य थे वे प्रायः अनुवादित थे मौलिक नहीं। दूसरे वे अल्पकाय थे [illegible] जयद्रथ वध आदि जो चार

मौलिक काव्य थे भी, तो उन्हें अधिक से अधिक 'खण्डकाव्य' कहा जायगा, महाकाव्य नहीं। तीसरे, उस समय के काव्यों के छन्दों का ढर्रा बिलकुल गतानुगतिक था, वही अनुप्रास, वही तुकान्तता! 'हरिऔध' की मौलिक काव्यचेतना ने इन तीनों दिशाओं में नवीनता लाने का निश्चय किया और परिणाम हुआ 'प्रियप्रवास',-जो मौलिक भी है, महाकाव्य भी है और साथ ही साथ भिन्नतुकान्त छन्दों में निर्मित भी है। अक्टूबर १९०८ से लेकर फरवरी १९१३ तक—लगभग ४½ वर्षों तक कवि की कलम चलती रही, अपने पहलू में अपने अरमान को छिपाए हुए, सम्हल सम्हल कर। पहले इस ग्रंथ का नाम 'व्रजांगना-विलाप' रक्खा गया था, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उपनयन के समय इसे 'प्रियप्रवास' के नाम से दीक्षा दी गई। इस परिवर्तित नामकरण के कई कारण हो सकते हैं। 'व्रजांगना-विलाप' में विलाप के अतिरिक्त और घटनाक्रम का समावेश होना कठिन था, किन्तु 'प्रियप्रवास' नाम में व्यापकता है और भिन्न भिन्न घटनाओं का चक्रव्यूह इसकी छत्रच्छाया मे आसानी से रचा जा सकता था। यद्यपि 'व्रजांगना-विलाप' में भी अनुप्रास है, किन्तु 'प्रियप्रवास' में काफिया और भी काफी तौर से मिलता है। इसके अतिरिक्त 'व्रजांगना' के 'विलाप' के उपक्रम में व्रज की लीलाओं के वे पौराणिक रूप भी मस्तिष्क के आगे अनायास आने लगते हैं जिनकी अयुक्तिसगतता उन्हे बहुत खटकती है और जिनका निराकरण और परिष्करण 'प्रियप्रवास' का एक मुख्य उद्देश्य है। फलत 'हरिऔध' के कविहृदय ने 'व्रजागनाविलाप' नाम का तिरस्कार करके 'प्रियप्रवास' को ही पसद किया।

अस्तु, विचार यह करना है कि महाकाव्य' किसे कहते हैं और महाकाव्य की परिभाषा की कसौटी पर कसने पर 'प्रियप्रवास' खरा उतरता है या नहीं। 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य की

विवेचना करते हुए विश्वनाथ कविराज ने उसके निम्नलिखित लक्षण लिखे हैं—

(१) सर्गों मे निबद्ध हो।

(२) उसका नायक कोई देवता हो अथवा 'धीरोदात्त' के गुणो से विभूषित कोई कुलीन क्षत्रिय हो, एक कुल में उत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते हैं।

(३) शृंगार, वीर और शान्त—इन तीनों में कोई एक रस प्रधान हो, उसके अतिरिक्त अन्य रस गौण होकर रहे।

(४) उसमें नाटक की सभी 'संधियाँ' विराजमान हो।

(५) वृत्त कोई ऐतिहासिक हो, अथवा अनैतिहासिक भी हो तो किसी सज्जन के आश्रित हो।

(६) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार वर्गों में किसी एक को फल स्वरूप चित्रित किया गया हो।

(७) आरंभ में नमस्कार, आशीर्वचन, अथवा प्रतिपाद्य वस्तु का सकेत हो; कही कही खलो की निन्दा और सज्जनों की स्तुति भी देखी जाती है।

(८) सर्ग की रचना एक ही तरह के वृत्तो अथवा छन्दों में हो, किन्तु अन्त के कुछ वृत्त बदले हुए हो। कभी कभी कई वृत्तों का एकही सर्ग मे समावेश किया जाता है।

(९) सर्ग न बहुत छोटे हो, न बहुत बडे, और उनकी संख्या आठ से अधिक हो।

(१०) सध्या सूर्य चन्द्र, रजनी, प्रदोप, दिन अधकार प्रात काल मध्याह्न, मृगया, पर्वत, वन सागर ऋतु आदि प्राकृतिक दृश्यो के तथा सयोग, वियोग यज्ञ युद्ध विवाह आदि मानवी घटनाओं

के और स्वर्ग, नरक ग्राम, नगर आदि विविध पदार्थों के यथा-वसर वर्णन इस महाकाव्य में जहाँ तहाँ पाए जायँ।

(११) उसका नाम कवि, काव्यगत वृत्त, नायक अथवा किसी अन्य के आधार पर हो; सर्गों के भी नाम घटनाक्रम के अनुसार हो।*

---

*सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायकः सुरः ॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥
शृंगार-वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटकसधय· ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गा. स्युस्तेष्वेकं च फल भवेत् ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीना सता च गुणकीर्त्तनम् ॥
एक - वृत्त - मयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया सूचन भवेत् ॥
सध्या - सूर्येन्दु - रजनी - प्रदोप-ध्वान्त वासरा· ।
प्रातर्मध्याह्न - मृगया - शैलर्तुवन - सागरा· ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनि - स्वर्ग - पुराध्वरा ।
रण - प्रयाणोपयम - मन्त्र - पुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोग साङ्गोपाङ्गा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥प० ६। ३१५-३२५

इन उपर्युक्त लक्षणों के साथ 'प्रियप्रवास' का मिलान करने पर पता चलेगा कि प्रायः सभी उसमें घटित होते हैं। सर्गों में विभाजित है ही, और नायक श्रीकृष्ण 'धीरोदात्त' हैं ही। पारिभाषिक रूप में 'नायक' वह है जो त्यागी, यशस्वी, कुलीन, रूप-यौवनसंपन्न, उत्साही दक्ष, लोकानुरागी, तेज, चातुर्य और शील से समवेत हो। ऐसे नायक के भी चार विशिष्ट प्रकार हैं—धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। संक्षेपतः 'धीरोद्धत' नायक अहंकारी और मायावी होता है, 'धीरललित' कला का प्रेमी और मृदुल प्रकृति का, तथा साधारणतया उत्तम गुणों से विभूषित ब्राह्मणादि 'धीरप्रशान्त' हुआ करते हैं। किन्तु सबसे उत्कृष्ट स्थान है 'धीरोदात्त' नायक का। उसे होना चाहिए अनात्मश्लाघी, क्षमावान्, अत्यन्त गंभीर, महान आत्मबल से युक्त, स्थिर, विनयी और दृढ़व्रती।* 'प्रियप्रवास' के नायक श्रीकृष्ण सब विचारों से 'धीरोदात्त' कोटि के सिद्ध होते हैं, और विशेषतः उस परिष्कृत रूप में जिसमें 'हरिऔध' ने उन्हें इस महाकाव्य में चित्रित किया है और जिसका विस्तृत विवेचन अगले परिच्छेदों में किया जायगा।

महाकाव्य की तीसरी विशेषता यह बताई गई है कि उसमें शृंगार, वीर और शान्त, इन तीनों में किसी एक की मुख्यता होनी चाहिए और अन्यों की गौणता। प्रियप्रवास नाम से ही यह विदित है कि इसमें विप्रलम्भशृंगार (वियोग) की प्रधानता है। आरंभ में संयोगशृंगार (संयोग) और वात्सल्यरस की भी प्रचुरता है। यशोदा और नंद के हृदयोद्गार वात्सल्य के उत्तम नमूने हैं। कथानक के अन्त में विप्रलंभ शृंगार के साथ साथ करुण

*अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥ साहित्यदर्पण। ३। ३२

रस भी ओत प्रोत है। जहाँ जहाँ कृष्ण की क्रूर हिंस्र जन्तुओं के हनन आदि वीरताओं के वर्णन हैं, वहाँ वीर रस भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। प्रकृति की स्थल स्थल पर जो मनोरम दृश्यावलियों के वर्णन हैं उनमे अद्भुत रस का भी समावेश है। सारांश यह कि यद्यपि 'प्रियप्रवास' के कथानक की केन्द्रीय भावना को दृष्टि मे रखते हुए यह कहना होगा कि इसमें विप्रलंभ शृंगार की प्रधानता है, तथापि अन्य रस भी विविध बेल-बूटों की नाईं सुन्दर रूप से यथायोग्य समाविष्ट होकर इसके काव्यपट को मनोहर औ अभिराम बनाने में सहायक हुए हैं।

विश्वनाथ कविराज ने यह भी लिखा है कि महाकाव्य मे नाटक की सभी 'सन्धियाँ' विद्यमान हों। सन्धि शब्द इस स्थल पर पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। उसकी परिभाषा है—

अन्तरैकार्थसंबन्धः सधिरेकान्वये सति।*

अर्थात् जहाँ भिन्न भिन्न दो कथांशो के प्रयोजनो का एक दूसरे से मेल हो वहाँ 'संधि' होती है, इस संधि के भी पाँच भेद होते हैं—

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसहृति†

इस संबंध मे यह जान लेना आवश्यक होगा कि जब पाँच 'अर्थप्रकृतियाँ' क्रमशः पाँच 'अवस्थाओं' से मिलती हैं तब क्रमश पाँच 'सधियो का आविर्भाव होता है।‡ अब प्रश्न यह है कि 'अर्थ-प्रकृतियाँ' क्या हैं और क्या हैं 'अवस्थाएँ'? अर्थप्रकृतियाँ वे साधन हैं जिनमे काव्यगत प्रयोजन की सिद्धि हो। पारिभाषिक

*साहित्यदर्पण — ६।७५

†मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसहृति।
इति पचास्य भेदाः स्यु क्रमाल्लक्षणमुच्यते।६।७५ ७६

‡यथासख्यमवस्थाभिराभियोगात्तु पचभि.।
पचधैवेतिवृत्तस्य भागा स्यु. पच सधय.।६।७४

महाकवि 'हरिऔध' का 'प्रिय-प्रवास'

—:※:—

लेखक

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० (त्रितय)

पटना कालिज, पटना

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

करण] १९४० [मूल्य १)

तौर से वे पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य।* उद्देश्य का प्राथमिक निरूपण 'बीज' है; दो भिन्न प्रयोजनों का समन्वय है 'बिन्दु'; व्यापक प्रसंग 'पताका' है; इस व्यापक प्रसंग में कोई विशिष्ट चरित्र का वृत्तान्त 'प्रकरी' कहलाता है; और प्रारब्ध उद्देश्य की सिद्धि है 'कार्य'।

प्रारंभ किए हुए उद्देश्य की प्रगति की 'अवस्थाएँ' भी पाँच हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।† उद्देश्य की सिद्धि के लिये उत्सुकता को 'आरंभ' कहते हैं; उसकी सिद्धि के लिये गतिशील चेष्टा का नाम 'प्रयत्न' है; कथानक के आगे बढ़ने पर जहाँ उद्देश्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों पक्षों में सिद्धिपक्ष प्रबल दीखे वहाँ 'प्राप्त्याशा' होगी, जब असिद्धिपक्ष बिल्कुल तिरोहित हो वहाँ 'प्राप्ति'; और जहाँ लक्ष्य की सिद्धि संपन्न हो जाय वहाँ अन्तिम अवस्था 'फलागम' होती है। उपर्युक्त आलोचना का स्पष्टीकरण यूँ किया जा सकता है:—

	अर्थप्रकृति	अवस्था	अ.प्र.	अ.
	बीज	आरंभ	बिन्दु	यत्न
सन्धि—	मुख		प्रतिमुख	

	अ प्र	अ	अ प्र	अ	अ प्र	अ
	पताका	प्राप्त्याशा	प्रकरी	नियताप्ति	कार्य	फलागम
सन्धि—	गर्भ		विमर्श		उपसहृति	

*बीज बिन्दु पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतय पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि। ६।६४-६५

†अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि।
आरंभ - यत्न - प्राप्त्याशा-नियताप्ति फलागमा॥ ६।७०-७१

'प्रियप्रवास' में ये संधियाँ किन किन स्थलों पर हैं इसका निर्णय बहुत कठिन है और इस विषय में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' भी हो सकती है। यही नहीं बल्कि एक बड़े कथानक में कितने ऐसे उपकथानक भी होंगे जिनमें प्रत्येक में इन संधियों का समन्वय दिखलाया जा सकता है। यहाँ पर सामान्य एवं व्यापकरूप से इन स्थलों का निर्देश किया जा सकता है। ग्रंथ के अन्तिम पद्य—

> सच्चे स्नेही अवनि जन के देश के श्याम–जैसे।
> राधा–जैसी सदयहृदया विश्व के प्रेम–डूबी।
> हे विश्वात्मा भरतभुवि के अंक में और आवें।
> ऐसी व्यापी विरहघटना किन्तु कोई न होवे॥—

से यह ज्ञात होता है कि कवि का इष्ट उद्देश्य है राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की परिणति विश्वप्रेम के रूप में दिखलाना। यह राधा और कृष्ण का प्रेम बीजरूप में अंकुरित प्रतिपादित किया है चतुर्थसर्ग में जहाँ यह बतलाया गया है कि—

> यह अलौकिक बालक—बालिका
> जब हुए कल क्रीड़न योग्य थे।
> परम तन्मयता संग प्रेम मे
> तब परस्पर थे वह खेलते॥४।१३॥

राधा के 'रोगीवृद्धजनोपकारनिरता' आदि विशेषणों मे अन्तिम लक्ष्य की भी ध्वनि होता है। अत इस स्थल पर हम मुख–सन्धि की योजना कर सकते हैं। पचम सर्ग मे कवि ने विदाई का वर्णन किया है और यह कहा है कि—

> आई वेला हरि गमन की छा गई खिन्नता सी'।

और आगे चलकर षष्ठ सर्ग मे शोकमग्ना राधा अपनी उत्सुकता के उत्कर्ष में पवन की दूतरूप कल्पना करके उसमें अपने भावुक

हृदय के उद्गार प्रगट करती है। इस यत्नशील उत्कंठा के प्रसंग को हम 'प्रतिमुख-संधि' स्वीकार कर सकते हैं। इसके बाद की गाथा संताप-गाथा है। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियां सभी विरह-संतप्त हैं। प्रकृति भी स्तब्ध है। कालक्रम से श्रीकृष्ण की प्रेरणा से ऊधोजी आते हैं और दशवें से सोलहवें सर्ग तक विरह-व्यथित हृदयों का करुण क्रन्दन कर्णगत करते हैं। पीछे वे राधा को श्रीकृष्ण का 'संदेशा' (१६।३८-४६) सुनाते हैं और व्रजेश्वरी भी सरल भाव से सुनकर और उस पर विचार कर कहती है कि—

> निर्लिप्ता औ यदपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ।
> तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
> वैसी वांछा जगतहित की आज भी है न होती।
> जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥
>
> —१६।५६

इस पद्य में जो अन्तर्द्वन्द्व का भाव स्पष्ट दीखता है उसे हम 'गर्भ'-सन्धि का प्रतीक मान सकते हैं क्योंकि यहाँ उद्देश्य की सिद्धि और असिद्धि दोनों पक्ष हैं। क्रमशः राधा का हृदय परिवर्तित होता है और वह निश्चित रूप से उद्घोषित करती है कि—

> मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।
> मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में॥
>
> —१६।१०४

इस निःसंशय मनोवृत्ति को 'विमर्श'-संधि का परिचायक समझना चाहिए और जब वह सप्तदश सर्ग में विस्तृत रूप से लोकसेवा में अपने को तन्मय कर देती है और जब कवि कहता है कि—

दीनो की थीं भगिनि जननी थीं अनाथाश्रितो की
आराध्या थीं व्रजअवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।
—१७।४९

—तव इसे उद्देश्य की चरमसिद्धि समझना चाहिये और इस स्थलपर 'उपसहृति'—सन्धि की योजना करनी चाहिये।

महाकाव्य के लक्षणों में यह भी वताया गया है कि वृत्त ऐतिहासिक हो वा अनैतिहासिक हो किन्तु किसी प्रसिद्ध व्यक्तित्व पर आधृत हो। राधा-कृष्ण और गोप-गोपियो के कथानक की चिरंतन प्रसिद्धि के सवन्ध में भला किसे सशय होगा? इसके अतिरिक्त यह कथानक ऐतिहासिक भी है।—यहाँ 'इतिहास' का व्यापक अर्थ लिया गया है जिसमे किसी राष्ट्र या उसकी सस्कृति की अंगीभूत गतानुगतिक धारणाएं और मनोवृत्तियाँ भी शामिल हैं; और हमारे भारत मे 'इतिहास' का यही व्यापक अर्थ लिया भी गया है। यह तो हाल-की-सभ्य कुछ पाश्चात्य जातियो ने 'इतिहास' का 'तिथिगत घटनाओ' के रूप मे प्रयोग करना ही उचित समझा है; कारण यह कि उनकी सभ्यता की पुस्तक के इने-गिने पन्ने आसानी से उलटे जा सकते हैं। किन्तु जिस सनातन प्राचीन भारत के अतीत का धूमिल सुदूर क्षितिज की नाईं अस्पष्ट होना अनिवार्य है, उसके इतिहास का वह सकुचित अर्थ लेना न तो सभव है और न न्याय्य है। हम अपनी रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थो की कोटि मे गिनेंगे, किन्तु पाश्चात्य समालोचको की दृष्टि मे 'इतिहास भारतीय साहित्य का त्रुटिपक्ष है'। अत अपनी विशिष्ट दृष्टि से राधाकृष्ण और गोप-गोपियो की वियोगगाथा को ऐतिहासिक स्वीकार करने मे हमे तनिक भी हिचक नही होनी चाहिये।

साहित्यदर्पणकार ने यह भी वताया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुर्वर्ग मे से किसी एक की सिद्धि महाकाव्य का

लक्ष्य होना चाहिये। इस संबंध मे यह भी जान लेना चाहिये कि वर्त्तमान समालोचना-जगत मे इस सिद्धान्त के दो पक्ष हो गए हैं—स्वान्त.सुखाय-वाद और प्रेष्यप्रभाव-वाद। स्वान्तः सुखायवाद की ही दूसरी सज्ञा है 'कला कला के लिये' (art for art's sake)। इस वाद का यह मत है कि कवि अपनी भावुकता की लहर मे जो चाहे सो गावे—श्लील, अश्लील, सार्थक, निरर्थक। उसे समाज की फिक्र करने की आवश्यकता नही। दार्शनिक और समाज-सुधारक भले ही इस चिन्ता मे रहें। 'काजी जी दुबले क्यों? शहर के अदेसे से'! किन्तु कवि को अदेसे से क्या काम? बिहारी आदि जिन कवियो ने कृष्ण एवं गोपियो की ओट मे 'कलुषित प्रेम की शतसहस्र उद्भावनाएं की' और 'अपनी काव्य-कला को वासकसज्जा की भाँति संवारा और उसे अलंकारो से अलंकृत किया', उन्हें भी हम कला-कला-के-लिये वाले सिद्धान्त के आश्रयण से दोषमुक्त कर सकेंगे। किन्तु दूसरा पक्ष यह मानता है कि कवि एक सामाजिक व्यक्ति है, उसका अपने समाज और राष्ट्र से अविच्छिन्न सबन्ध है अत उसे त्रिशंकु-वृत्ति अख्तियार करने का कोई अख्तियार नही। वह निरंकुश होने का दावा नही कर सकता, उसे अपने समाज की शुभकामना करनी ही होगी। जापान के प्रसिद्ध कवि नोगची ने कहा है कि जिस कला ने जीवन को उन्नत नही बनाया वह कला विकला है। रामनरेश त्रिपाठी ने भी उद्घोषित किया है कि—

निर्जन वन के बीच [illegible] पथ
नभ मे दीप [illegible] न रवि
संकट मे सान्त्वनावाक्य
[illegible] मे [illegible] कवि

उदाहरणत. तुलसी की कला का लक्ष्य था अपने समाज के [illegible]

जीवन के आदर्शों का परिस्थापन। यद्यपि उन्होंने रामायण के आरंभ में 'स्वान्त सुखाय' कविता रचने की प्रतिज्ञा की है, किन्तु तथापि उनके स्वान्तःसुखायवाद और प्रेष्यप्रभाववाद में कोई अन्तर नहीं। अन्तर मुख्यतः वहीं होता है जब व्यक्तिगत कलुषित मनोवृत्ति के साथ आदर्श सामाजिक मनोवृत्ति का संघर्ष होता है। यदि ऐसी बात न हो तो अन्त में जाकर सिद्धान्त के दोनों पक्ष एक ही प्रकार और कला की एक ही गतिविधि में समन्वित हो जाते हैं।

'प्रियप्रवास'-कार को भी अपने समाज को एक आदर्श की शिक्षा देना इष्ट है। वह आदर्श है स्वार्थमय मोह का परित्याग और निःस्वार्थ प्रणय का संश्रयण। निस्स्वार्थ प्रणय की परिणति विश्व-प्रेम में होती है। यही विश्वप्रेम वह आदर्श है जिसे 'हरिऔध' ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है और परमात्मा से प्रार्थना की है कि श्याम-जैसे देशप्रेमी और राधा-जैसी लोक-सेविकाएँ—

'हे विश्वात्मा भरतभुवि के अंक में और आवें'

निष्कर्ष यह कि धर्म अर्थ, काम और मोक्ष में 'हरिऔध' ने धर्म की प्रधानता दी है, और धर्माचरण ही मोक्ष का सोपान है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' का लक्ष्य मुख्यतः धर्म और आनुषंगिक रूप में मोक्ष की सिद्धि है। भूमिका में 'हरिऔध' ने भी 'स्वान्त सुखाय' की दलील दे कर अपने प्रयास का आरंभ करना बताया है। किन्तु इनके संबंध में भी तुलसी की भाँति स्वान्त सुखायवाद और प्रेष्यप्रभाववाद में कोई अन्तर नहीं दीखता है। कवि की अन्तस्तुष्टि इसी में है कि उसकी कविता द्वारा उसके समाज को लाभ हो इस जीवन-यात्रा में उसे कुछ पाथेय मिले।

'प्रियप्रवास' का आरंभ मंगलाचरण, आशीर्वचन, खलनिंदा आदि से नहीं है, पर सान्ध्यवर्णन से। किन्तु इसी सांध्यवर्णन के प्रसंग में यह बताया गया है कि अचानक—

ध्वनिमयी करके गिरिकंदरा
 कलित-कानन केलि-निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही
 तरणिजा-तट-राजित कुंज में। १।६

इस पद्य द्वारा श्रीकृष्ण के चरित के उस माधुर्य का सूक्ष्म संकेत-ना किया गया है जो सारे कथानक की अन्तर्धारा है। इसके अति-रिक्त सन्ध्या के वर्णन का जो क्रम है उससे भी प्रियप्रवास की कथा-वस्तु का कुछ आभास-सा मिलता है।—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
.. ..
अधिक और हुई नभ लालिमा
दश दिशा अनुरंजित हो गई
. . ...
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी
किरण पादप-शीश विहारिणी
तरणि-बिंब तिरोहित हो चला
गगनमंडल मध्य शनैः शनैः ।। १।१-५

क्या श्रीकृष्ण के प्रेम की मधुरिमा इसी प्रकार 'कुछ लोहित' रूप में वृन्दावन के गोप-गोपियों के हृदयाकाश में नहीं प्रगट हुई थी? क्या इसी प्रकार क्रमशः 'लालिमा अधिक नहीं हुई थी'? और पीछे क्या दश दिशाएं अनुरंजित नहीं हुई थीं? क्या अन्ततः वह 'किरण'

मथुरारूपी 'अनल' के शिखरों पर व्याप्तरूप से नहीं जा रही थी? और क्या इसी तरह शनैः शनैः श्रीकृष्णरूपी 'तरणिजन्य' गोप-गोपियों के हृदयागारा में, ओर में, तिरोहित और विलीन नहीं हो गया था? निःसन्देह आरम्भ के ये पाँच पद्य कवि के कलात्मक संस्पर्श (artistic touch) के परिचायक हैं।

महाकाव्य का आठवाँ लक्षणांश यह बताया गया है कि सर्ग में यदि मुख्यतः एक ही छंद का समावेश हो तो अन्तिम कुछ छंद बदल कर लिखना चाहिए अथवा समग्र सर्ग में छन्दों में पद पद पर नवीनता लाई जाय। सम्भवतः इस नियम का प्राचीनकाल में मनोवैज्ञानिक आधार रहा होगा। प्रथम तो, एक ही छंद में सर्ग समाप्त करने की चेष्टा से मानव की जो परिवर्तन-पसंद प्रवृत्ति है उसकी संतुष्टि न होगी। दूसरे, पाठक पढ़ते पढ़ते जब छन्दों के चरणों की भिन्न भिन्न प्रगति देखेगा तो अनायास उसके हृदय में आनन्द का उद्रेक-सा होगा कि अब सर्ग की समाप्ति समीप है। यदि छंद 'पल पल पर पलटन लगे', तब तो मनोरंजन का कहना ही क्या?

'प्रियप्रवास' के अध्ययन से ऐसा भान होता है मानों कवि ने जब इस काव्य की रचना आरंभ की उस समय उसके मस्तिष्क से छन्दों के वैविध्य की उपादेयता की बात ओझल सी हो गई थी। फलतः प्रथम और द्वितीय सर्ग कुल के कुल एक ही छंद—द्रुतविलंबित—में रचे गए। तृतीय सर्ग में इस सरणि का परित्याग किया गया और यद्यपि यह भी सर्ग सामूहिकरूप से द्रुतविलंबित में ही लिखा गया किन्तु बीच में दो मालिनियाँ (४६, ४७) और अन्तिम भाग में एक शार्दूलविक्रीडित देकर नीरस एकरसता (monotony) का भंग किया गया। तृतीय से लेकर सप्तदश तक सभी सर्गों में नई ही छन्दोवैविध्यवाली सरणि का अनुसरण किया गया है और अच्छी तरह।

सर्गों की संख्या १७ है, अतः उचित है, क्योंकि यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य में आठ सर्गों से अधिक होना चाहिए। सर्गों की इयत्ता के संबंध में ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथ के पूर्वार्द्ध मे तो सर्ग कुछ छोटे हैं किन्तु पश्चार्ध में वड़े। केवल अन्तिम सर्ग एक अतिरिक्तता (exception) है; और उसकी लघुता का समाहारसूचक मनोवैज्ञानिक समाधान भी संभव है। नीचे दी हुई तालिका सर्गों के आयाम का पूरा पूरा पता वता देगी:—

सर्गसंख्या	छन्दसंख्या
१	५१
२	६४
३	८६
४	५३
५	८०
६	८३
७	६३
८	७०
९	१३५
१०	९७
११	९९
१२	१०१
१३	११९
१४	१४७
१५	१२८
१६	१३६
१७	५४
	कुल १५६९

अपनी परिभाषा के दूशम अश मे विश्वनाथ कविराज ने यह बताया है कि महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और मानवीय हृदय की भावनाओं और उनके बहिरंग विकास (external manifestation) का चित्रण यथावसर होना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण मे तो 'हरिऔध' का इस युग मे एक अनुपम स्थान है। 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नामक भाषणावली में कवि ने केशव की आलोचना करते हुए लिखा है कि हिन्दी कवियों पर जो यह लाञ्छन लगाया जाता है कि 'सौन्दर्य के लिए उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण कभी नहीं किया सो इस कलङ्क को कोई कुछ धोता है तो वे कविवर केशवदास के ही कुछ प्राकृतिक वर्णन हैं' (पृ० २७४)। कवि की प्रकृति के प्रति जो प्रवल सहानुभूति उपर्युक्त समालोचना से व्यक्त होती है उसका ज्वलन्त परिचय है 'प्रियप्रवास'। केशव ने तो प्रकृति-निरीक्षण-पराङ्मुखता के चिरकालीन कलङ्क को कुछ ही धोया था न ? किन्तु हरिऔध ने उसे सर्वदा के लिये धो दिया है और इस सबध मे निस्सन्देह वे वर्तमान युग के अग्रदूत समझे जायगे। उनके प्रकृति-चित्रण के सबन्ध मे यथावसर फिर विशदीकरण किया जायगा।

मानवप्रकृति और उसकी प्रगति—सयोग, वियोग, ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम आदि—का विश्लेषण तो इस महाकाव्य का लक्ष्य ही है और भिन्न भिन्न चरित्रों का चित्रण यथावसर विश्लेषणात्मक ढग से किया जायगा।

'प्रियप्रवास' नाम की उपादेयता के सवन्ध मे पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है। 'प्रिय' से सकेत है गोप-गोपियों के हृदयहारी वृन्दावन विहारी पीतपटधारी बनवारी की ओर, और उसी के प्रवास अर्थात् वृन्दावन से मथुरा-गमन के परिणामस्वरूप वृन्दावनवासियो के हृदय मे कारुण्य की जो अव्याहत धारा प्रवाहित हुई उसी का विस्तृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस काव्य का

ध्येय है। अतः 'प्रियप्रवास' नाम पूर्णरूप से सार्थक है और अनुप्रास-विशिष्ट होने से कान्त और कलात्मक भी है। उपरिनिर्दिष्ट विचार-धारा से यह सिद्ध हो जाता है कि 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' के निर्माण के समय 'महाकाव्य' की जितनी भी विशेषताएँ हैं उनको समाविष्ट करने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने माधुरी' (वर्ष ११. खंड १, सं० २) में 'महाकवि हरिऔध' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था। उसमें उन्होंने बताया है कि—"श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध तथा सूरसागर के समस्त गीतों का एक साथ ही आनन्द लेने की जिसे लालसा हो, वह 'प्रियप्रवास' के परम मधुर रस में डूबे! खड़ी बोली का एकमात्र महाकाव्य 'प्रियप्रवास' जिस प्रकार अपनी सुकुमारता, कोमलता एवं माधुर्य में अनन्य है, उसी प्रकार 'हरिऔध' जी भी काव्य-साम्राज्य के एकमात्र चक्रवर्ती नरेश हैं।" उपर्युक्त कथन में अत्युक्ति की मात्रा संभव है, किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी की वर्तमान परिस्थिति में 'महाकाव्य' की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' अपने जैसा आप ही है।

साहित्यिक एवं पारिभाषिक लक्षणों की ओर न जाकर यदि किसी महाकाव्य की सामान्यरूप से जांच करनी हो तो यह देखना होगा कि—(१) उसके कथानक की भिन्न भिन्न घटनाओं में समय-सन्तान (unity of time) और आकर्षण-सन्तान (unity of interest) है या नहीं। परस्पर असम्बद्ध अथवा शिथिल-सम्बद्ध घटनाक्रम की स्फूर्ति प्रबन्धकाव्य की अपकर्षविधायिनी है। इसी प्रकार घटनाओं के सिलसिले के साथ साथ समय का सिलसिला भी चलना चाहिए। दो घटनाओं के बीच काल की गहरी खाई कला की त्रुटि की द्योतक है। प्रियप्रवास के घटनाचक्र में यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि वह सम्बद्ध और सिलसिलेवार है और पाठक को कहीं पर आकस्मिक व्याघात या व्यवधान का अनुभव नहीं करना

पड़ता। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्तरार्ध के कई सर्गों में एक ही घटना—गोप-गोपियों की विरह-गाथा के कथन और श्रवण—का अनुचित आयाम-सा दे दिया गया है। अतः एक सर्ग के पढ़ने पर दूसरे सर्ग को पढ़ने की उत्सुकता कम पड़ जाती है। यह दिलचस्पी अथवा आकर्षण-सन्तान (unity of interest) की कमी संभवतः कलापक्ष की त्रुटि है।

(२) 'महाकाव्य' के सम्बन्ध मे यह भी जांचना पड़ेगा कि उसका सामूहिक रूप से एक व्यापक परिणाम, लक्ष्य अथवा संदेश है वा नही। विश्वप्रेम-की-शिक्षा रूपी व्यापक सदेश के सबन्ध मे पिछले पृष्ठो मे कहा जा चुका है और पुन. दुहराना पिष्ट-पेषण-मात्र होगा।

(ख) खड़ी बोली में

खड़ी बोली और व्रजभाषा के सबन्ध मे विचार करते हुए पं० रामचंद्र शुक्ल ने इसे स्पष्ट कर दिया है कि दोनों ही लगभग समानरूप मे सनातन भाषाएँ हैं—एक दूसरे की समकक्ष। खड़ी बोली शुरू मे 'पछाँह' की बोली है और अपने स्वाभाविक-रूप मे सदा मे बोली जाती थी, और है। मौलवियों और मुंशियों की उर्दू ए-मुअल्ला उसका विकृत और परवर्ती रूप है। अत कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व मे आई और उसका मूलरूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकाल कर बना ली गई—शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। मिश्रित और धूमिल खड़ी बोली का व्यवहार तो बहुत पुराने काल से होता आया है। हेमचंद्र (११७०-११९९) ने अपने पूर्ववर्ती काव्यों में मे भी 'भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कंतु' जैसी

पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। खुसरो (१४वीं वि०) ने व्रजभाषा साथ साथ खड़ी बोली में मुकरियाँ और पहेलियाँ लिखी—

एक नार ने अचरज किया
साँप मारि पिंजरे में दिया "—आदि।

कबीर (१५वीं० वि०) की बानी में भी खड़ी बोली के पुट पाए जाते हैं—

कबीर कहता जात हूँ सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा नहिं तर भला न होइ॥

जटमल (१७वीं० वि०) ने राजस्थानी-मिश्रित खड़ी बोली में 'गोराबादल की कथा' लिखी। इन बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि मुगल साम्राज्य में खड़ी बोली शिष्ट भाषा के रूप में प्रचलित थी, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि खड़ी बोली का साहित्य—मुख्यतः गद्य साहित्य—बिलकुल दरिद्र था।

जब वर्त्तमानकाल में गद्य के सृजन की अनिवार्य आवश्यकता [illegible] पड़ी और बृटिश शासकों और मिशनरियों को भी भारतीयों के साथ संपर्क के लिये माध्यम की जरूरत हुई तो उन्होंने इस खड़ी हिन्दी को चुना जिसमें पहले से ही मुंशी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' और इंशाअल्लाखाँ ने रानी केतकी की कहानी' लिखकर बीजारोपण कर दिया था। फोर्टविलियम कालेज के गिलक्राइस्ट साहब की देखरेख में लल्लूलाल ने प्रेमसागर और [illegible]ल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा।

तबसे अबतक खड़ी हिन्दी के गद्य और पद्य-साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता चला [illegible] है। भारतेन्दु ने अपनी [illegible]भा की सद्भावना [illegible] खड़ी बोली-कविता में [illegible] प्रयास का परिचय तो दिया किन्तु उन्होंने [illegible] प्रबन्धात्मक काव्य नहीं रचे, क्यों [illegible]

में फुटकल पद्य और छोटे-मोटे खंडकाव्यों का यत्रतत्र आविर्भाव हुआ, किन्तु यह श्रेय इस युग में प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ही को है कि उन्होंने 'प्रियप्रवास' जैसा विशालकाय महाकाव्य खड़ी हिन्दी के करकमलों में अर्पित किया। खड़ी हिन्दी 'प्रियप्रवास' के बल से सचमुच अपने पाँवों खड़ी हो गई। उसको मानों सपने में सोना मिल गया और वह सोना जागृतावस्था में भी सोना ही बना रहा। आज भी खड़ी हिंदी में महाकाव्यों की संख्या इनीगिनी है और उनमें 'प्रियप्रवास' का स्थान अग्रगण्यता की दृष्टि से आदरणीय है। उस समय और उसके बाद भी व्रजभाषा में कविताएं होती रही हैं। 'गंगावतरण' जैसी प्रबन्धात्मक रचनाएं वर्त्तमानकाल में भी व्रजभाषा के लिये गौरव का विषय हैं; किन्तु 'प्रियप्रवास' की रचना ने मानों खड़ी बोली के आशामय भविष्य पर साफल्य की मुहर लगा दी और खड़ी हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह काव्य एक मील-स्तम्भ (mile-post) के रूप में अमर हो गया है। आज व्रजभाषा अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही है।

जिस समय 'हरिऔध' ने खड़ी बोली के माध्यम से इस काव्य का सूत्रपात किया उस समय उनके हृदय में भी कुछ द्विविधा थी। कारण था उस समय के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिकों की खड़ी बोली काव्य के प्रति उदासीनता। 'प्रियप्रवास' की भूमिका में खडीबोली के समर्थन में कई पन्ने रंग डाले गए हैं। 'हरिऔध' ने प० बालकृष्ण भट्ट का विरुद्ध मत भी उद्धृत किया है। भट्ट जी का विचार था कि 'खडी बोली में एक इस प्रकार का कर्कशपन है कि कविता के काम में ला उसमें सरसता संपादन करना प्रतिभावान के लिये भी कठिन है।' लाला भगवान दीन ने भी एक स्थान पर लिखा है कि "खडी बोली का खडापन कान फाड़े डालता है।" ऐसी परिस्थिति में—खडी बोली की कर्कशता

को ध्यान में रखते हुए—इसे क्योंकर अपनाया जाय ?—यह 'हरिऔध' के संमुख एक समस्या थी। सचमुच 'पाँयन नूपुर मंजु बजै कटि किंकिनि की धुनि की मधुराई' जैसी लचीली और मृदुल पंक्तियाँ उस समय की विकासवती खड़ी बोली के लिये असंभव थीं। इस माधुर्य के अभाव का प्रथम कारण तो था खड़ी हिन्दी के प्रयास की प्रारम्भिकता। किन्तु साथ ही साथ कवि ने यह भी सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि "(पदावली की कान्तता, कोमलता और मधुरता केवल पदावली में ही संनिहित नहीं है। वरन् उसका बहुत कुछ संबन्ध संस्कार और हृदय से भी है।") इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बतलाया है कि यद्यपि संस्कृत और प्राकृत इन दोनों में संस्कृत ही मधुरतर है तथापि राजशेखर ने लिखा है कि—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबधोवि होइ सुउमारो।
पुरुसाणं महिलाण जेत्तिय मिहन्तर तेत्तिय मिमाणं॥

अर्थात् संस्कृत रचना परुष होती है और प्राकृत-रचना सुकुमार: और इन दोनों में उतना ही महान अन्तर है जितना कि पुरुषों और महिलाओं में। किन्तु 'हरिऔध' ने बहुत से उदाहरण पेश किये हैं—जैसे—

प्राकृत—अम्हारिस जणजोग्गेण बम्हणेण उवनिमन्तिण।

सस्कृत—अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेन उपनिमन्त्रितेन। आदि-जिनसे यह सिद्ध होता है कि सस्कृत प्राकृत से कोमल है। अत राजशेखर द्वारा प्राकृत की अतिकोमलता के मूल में निम्नलिखित कारण हैं—

(क) प्राकृत को सस्कृत की जननी समझने का भ्रममूलक सस्कार,

(ख) प्राकृत का सर्वसाधारण की भाषा में निकटतर होना ·

(ग) प्राकृत की संस्कृत की अपेक्षा बोधगम्यता ।

पीछे चल कर जो बौद्ध धर्म की अवनति के साथ साथ प्राकृत के प्रचार का ह्रास होने लगा उसमें भी संस्कृतमयी प्रवृत्ति लेकर अवतीर्ण होने वाली मनोहर हिन्दी का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

'हरिऔध' ने यह भी दिखलाया है कि आरंभ के खुसरो आदि मुसलमान कवियों ने अरबी-फारसी का अल्पमिश्रण हिन्दी मे किया, किन्तु पीछे गालिब और ज़ौक आदि ने अत्यधिक मात्रा मे इन विदेशी भाषाओं को स्थान दिया। इसके विपरीत इंशाअल्लाखाँ ने ऐसी कहानी लिखी 'जिसमें हिन्दी छुट, और न किसी बोली का मेल है न पुट'। आज जो हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की जटिल समस्या आ खड़ी है उसकी तह में हमारे भिन्न भिन्न धार्मिक और जातिभाषामूलक संस्कार होते हैं। अतः यदि यह मान भी लिया जाय कि वस्तुतः कोमलता और कान्तता मुख्यतः पदावली में ही निहित है, फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भाषा के आदृत और अनादृत होने का संबन्ध निस्सन्देह संस्कार और हृदय मे है। साराश यह कि जो लोग खडी हिन्दी काव्य की निर्बाध निन्दा करते हैं उनकी इस निन्दा का एक कारण यह भी है कि व्रजभाषा की माधुरी का पान करते करते उनकी सौन्दर्यभावना उसी रग मे रग गई है और इतनी गाढी तरह कि 'चढ़ै न दूजो रग'। खडी बोली निसर्गत अ-सुदर नहीं है, उसमे कर्कशता का अनुभव बहुत अशों में व्यक्तिगत संस्कार और वासना-विशेष मे सबद्ध है।

खडी बोली के संबंध मे कुछ और बाते ध्यान देने योग्य हैं। हम जानते हैं कि जो चीज नई होती है उसका अनूठापन गतानुगतिक मनोवृत्ति को अखरता है। सुकरात ने नवीन सत्य का

र्य अपने प्राणपण से किया। क्राइस्ट ने नए सिद्धान्तों के प्रचार का उपहार सूली पर पाया। दयानन्द को निर्भीक सत्य का मूल्य जहर की घूँट में मिला। तात्पर्य यह कि नवीनता से पहले पहल कालक्रमागत दकियानूसी धारणाओं पर जबरदस्त धक्का पहुँचता है। हमारी खड़ी हिन्दी को भी ब्रजभाषा के हिमायती दल ने धक्का पहुँचाया, पर अब तो धक्के खाकर यह और भी दृढ़ और अविचल हो गई है। यह भी देखा गया है कि खड़ी हिन्दी के विरोधियों ने खड़ी हिन्दी में ही खड़ी हिन्दी का विरोध किया है। अर्थात् उन्होंने गद्य के लिये खड़ी हिन्दी की सामर्थ्य के संबन्ध में तनिक भी शंका नहीं की है। तात्पर्य यह कि उनके मत में गद्य साहित्य तो खड़ी हिन्दी में हो पर पद्यसाहित्य ब्रजभाषा में हो। किन्तु यह आधा-तित्तर-आधा-बटेरी कल्पना असंभव और अव्यावहारिक है। हमारी साहित्यिक प्रगति की ज्योत्स्नास्नात निशीथिनी गद्य-पद्य के चक्रवाक-मिथुन की बिछुड़न का ऐसा दर्दनाक दृश्य गवारा नहीं कर सकती। साहित्यिक अभ्युद्गति की घड़ी की दोनों सुइयाँ एक ही ओर दौड़ेंगी एक को ब्रजभाषा की ओर और दूसरी को खड़ी बोली की ओर परस्पर-विरोधिनी दिशाओं में प्रेरित करने का स्वप्न दुःस्वप्न-मात्र है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वर्त्तमान युग खड़ी बोली का युग है। जिस तरह कालिदास ने लिखा है कि— 'क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्' अर्थात् दृढ़निश्चय और नीचे बहने वाले पानी का वेग रोकना असंभव है उसी प्रकार आज खड़ी हिन्दी की प्रगति को पीछे मोड़ने का प्रयत्न प्रमत्त प्रलाप के सिवाय और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' (N[illegible])। हमारे तरुण कवियों को खड़ी हिन्दी कविता की आवश्यकता हुई और उस आवश्यकता ने उन्हें ऐसी प्रतिभा दी और ऐसी प्रेरणा दी

जिससे वे अपनी वाणी को कोमल कान्त पदावली मे संयोजित कर सके हैं। 'पंत' के 'पल्लव' की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

> यह कैसा जीवन का गान
> अलि ! कोमल कलमल टलमल !
> अरी शैलबाले ! नादान !
> यह अविरल कलकल छलछल !—

क्या मधुरिमा और भावानुरूप संगीतमयता की प्रतिमूर्ति नहीं है ? नवीन युग की छायावादी कविताओं की स्वरलहरी में हृदय लहराने वाले तरुण हृदय ने खड़ी बोली को मृदिमा और लोच की अनन्त सपत्ति भेंट की है। आज भी उसे कर्कश कहना निरी असंगति है।

(ग) भिन्नतुकान्तता और (घ) संस्कृतवृत्तता

'हरिऔध' ने भिन्नतुकान्तता की ताईद करते हुए लिखा है कि "भिन्नतुकान्त कविता भाषा साहित्य के लिए एक बिल्कुल नई वस्तु है·· ····'नूतनं नूतनं पदे पदे' है।" जहाँ दो या उससे अधिक चरणों में परस्पर अन्त्यानुप्रास और स्वरसामञ्जस्य हो वहाँ उस विशेषता को 'तुक' कहते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों में—

> गूंजती गिरिगह्वरों में गर्जना है,
> विषमपथ में गर्जना है तर्जना है।
> किन्तु डर्रूँ क्यों मैं हे प्यारे !
> तेरे पीछे जाता हूँ।
> माना तुझे नहीं पर तेरी
> उज्ज्वल आभा पाता हूँ ॥—
> मंकार।

हम देखते हैं कि प्रथम पद्यांश में तो दोनों चरणों में तुक है किन्तु दूसरे में प्रथम, तृतीय चरण तो अतुकान्त हैं, और द्वितीय और

चतुर्थ तुकान्त हैं। फिर भी दोनो को तुकान्त पद्य कहा जायगा। भिन्नतुकान्त पद्य इसके विपरीत वे होंगे जिनमे किसी भी चरण के अंत्य स्वर किसी भी चरण से मेल न खाते हो। यथा—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला.
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

हमारा विशाल संस्कृत का काव्यसाहित्य मुख्यतः अतुकान्त चरणों में ही लिखा गया है। यथा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अंग्रेजी में भी पीछे चलकर अतुकान्त छन्दो (Blank verse) का प्रयोग होने लगा। यथा—

शेक्सपियर (Shakespeare) से—

The man that hath no music in himself,
Nor is not mov'd by concord of sweet sounds
Is fit for treason stratagem and spoil

(किन्तु हिन्दी ने संस्कृत का दामन छोडकर जब से स्वतन्त्ररूप से चलना सीखा तभी से उसके चरणो के विन्यास और गतिविधि दोनो मे क्रान्ति हुई। उसने वर्णिक वृत्तो की बेडी तोड फेंकी और मात्रिकवृत्तो के सहारे तुकान्तता के नूपुरो की रुनझुन रुनझुन ध्वनि से सजकर साहित्यिक क्षेत्र मे अपने नवीन नर्तन के प्रदर्शन के लिये प्रस्तुत हुई।)

इस स्थल पर सस्कृत के उन वर्णिकवृत्तो की विशेषता बता देना आवश्यक दीखता है जिनका आश्रयण 'प्रियप्रवास' में लिया गया है। छंद के दो भेद हैं—वर्णिक और मात्रिक। वर्णों की गणना और क्रम के आधार पर रचित छन्द वर्णिक हैं; और मात्राओं की गणना के आधार पर निर्मित छद मात्रिक हैं। सस्कृत में मुख्यतः वर्णिक छंदो का ही प्रयोग हुआ है और वर्णों के क्रम के नियमन के लिये गणों का विधान किया गया है। यथा—द्रुतविलंबित—वर्ण-संख्या-१२, क्रमप्रकार—न. भ भ र*

उदाहरण—द्रुतवि / लंबित / माहन / भौभरो ॥

||| ऽ|| ऽ|| ऽ|ऽ

उपर्युक्त पंक्ति में न केवल यह कि सब मिलकर मात्राओं की संख्या १६ होनी चाहिये, किन्तु प्रत्येक वर्ण का विशिष्ट रूप—ह्रस्व अथवा दीर्घ—भी निर्णीत है। इसके विपरीत मात्रिक वृत्तों में केवल एक ही बन्धन है—मात्राओं की संख्या का। यथा—

चौपाई :—मात्रा—१६

|ऽ |ऽ | | | | | |ऽऽ

उदाहरण—चली नदी लघु भरि उतराई।

| | ऽऽ | | | | ऽऽऽ

जस थोरे धन खल बौराई ॥

इसमें ह्रस्व-दीर्घ के सकेतो से स्पष्ट है कि वर्णों का कोई क्रम निर्धारित नही है। आवश्यकता इतनी ही है कि टोटल मिलकर १६ मात्राएँ होना चाहिये। साराश यह कि वर्णिक वृत्तों में जहाँ दो प्रकार के नियत्रण हैं वहाँ मात्रिक वृत्तो मे केवल एक ही। अतः यद्यपि हिन्दी के मात्रिक छन्द सस्कृत के वर्णिक छदों से अधिक

---

*न = नगण भ = भगण इत्यादि।

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

—:※:—

लेखक
धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० (त्रितय)
पटना कालिज, पटना

प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

[संस्करण] १९४० [मूल्य १)

स्वतंत्र हैं तथापि इनमें वर्णिक छंदों के प्रत्येक वर्ण के निश्चित क्रम से आविर्भूत जो एक स्वारस्य और चरणों की संगीतात्मक संगति है उसका अभाव है। इस भाव को रेखांकन (graph) द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणतः ऊपर उद्धृत जो 'द्रुतविलंबित' है उसका रेखांकन मात्राओं के दीर्घत्व-ह्रस्वत्व के अनुसार ऐसा हो सकता है :—
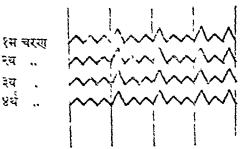
अर्थात् प्रत्येक चरण का रेखांकन एक रूप से समान है। अणु मात्र भी अन्तर नहीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक तृतीय वर्ण पर जो विराम है वह भी मानो ताल का काम देता है। इसके विरुद्ध जो मात्रिक छन्द चौपाई उदाहरण में दी गई है उसका रेखांकन होगा —

१म पंक्ति—

२य पंक्ति—

अर्थात दोनों पंक्तियाँ एक दूसरे से बिल्कुल विभिन्न हैं अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मानो मात्रिक वृत्तों के पदिक क्रमाभाव की त्रुटि की पूर्ति की गई है उनमें अन्त्यानुप्रास और तुकान्तता के समावेश द्वारा।

खैर जो भी हो, 'हरिऔध' ने हिन्दी में संस्कृत से वर्णिक वृत्त और उसकी अतुकान्तता दोनों को भाँति ली और सोचा कि इससे दो उद्देश्यों की सिद्धि होगी—

(क) भाषा-सौकर्य-साधन;

(ख) भाषा को "विविध प्रकार की कविता से विभूषित" करना। इनमें अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति तो कुछ अंशों में मानी जा सकती है क्योंकि 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी काव्यजगत में एक नई सरणि प्रवाहित की। किन्तु प्रथम उद्देश्य की सफलता कहाँ तक हो सकी है इसमें सन्देह है और इसकी कुछ विस्तृत आलोचना अपेक्ष्य है।

संस्कृतवृत्तता और भिन्नतुकान्तता ये दोनों लगभग एक ही घटना के दो पक्ष हैं, और दोनों में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध सा है। कारण यह है कि प्रत्येक भाषा की एक विशिष्ट गतिविधि और विशिष्ट प्रतिभा (genius) होती है। इस सिद्धांत के अनुसार संस्कृत और हिन्दी की भी अपनी अपनी प्रतिभा है,—संस्कृत संश्लेषणात्मक अर्थात् विभक्ति-प्रत्यय-विभूषित और समास-सन्धि-प्रधान है तो हिन्दी विश्लेषणात्मक अर्थात् समास-सन्धि तथा प्रत्यय और विभक्ति की जटिलता से शून्य। ऐसी दशा में संस्कृत ने शताब्दियों से जिस विशिष्ट प्रकार के वृत्त का जिस ढंग से प्रयोग किया है उस वृत्त और उस ढंग को हिन्दी के लिये उपयुक्त बनाना युक्तिसंगत नहीं दीखता। ऐसी चेष्टा अँग्रेजी की एक कहावत के अनुसार गोल सूराख में समचतुर्भुज गोटी और समचतुर्भुज सूराख में गोल गोटी रखने (square man in a round hole and round man in the square hole) के समान हास्यास्पद है।

फलत' प्रिय प्रवास' में नैसर्गिक माधुर्य का अभाव है। काव्य के लालित्य अथवा माधुर्य का मुख्य उपकरण है सगीत। पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है कि भाषा और मुख्यत कविता

[भ]ाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त
[गग]न मे लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती
[है]। उसी प्रकार एक पाश्चात्य कवि ने यहाँ तक कहा है कि—

By harmony the souls are sway'd :
By harmony the world was made

अर्थात संगीत हमारी आत्मा और प्राण को परिस्पन्दित
[क]रता है; संगीत ही से संसार का सृजन हुआ। इसी संगीत को
अपनी कविता मे संनिविष्ट करने के कारण कवि की उपमा 'स्वयम्भू'
भगवान से दी गई है।* कविता की दृष्टि से संगीतमयता के लिये
दो उपादान समझे जा सकते है:—

(क) श्रुतिसुगमता।
(ख) श्रुतिमधुरता।

श्रुतिसुगमता के लिये कविता में राग का होना आवश्यक है और
लय और ताल की समष्टि का नाम ही राग है। इसी प्रकार श्रुति-
[म]धुरता के लिये तीन चीजो की आवश्यकता है—कोमल-कान्त
[श]ब्दावली, मध्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास (तुक)। इन तीनो में अन्तिम
[बा]तो को एक दूसरे का स्थानापन्न बनाकर भी काम चलाया जा
सकता है। उदाहरणत —

ललित-लवंगलता-परिशीलन कोमल-मलय समीरे —

इस पंक्ति में किसी दूसरी पंक्ति के साथ तुक न भी हो तो भी निजी
अनुप्रासो की बदौलत ही यह संगीतमय माधुर्य से ओतप्रोत मानी
जायगी। लेकिन—

अर्धराति गइ कपि नहिं आव।
राम उठाइ अनुज उर लावा॥—

*तुलना कीजिये——एक पाश्चात्य कवि——
To bu[illegible]
But go[illegible]

इन पक्तियो मे सगीतात्मकता का एक मात्र उपकरण है तुकान्तता तात्पर्य यह कि तुकान्तता की त्रुटिपूर्ति मध्यानुप्रास से और मध्यानुप्रास के अभाव की पूर्ति तुकान्तता द्वारा सभव है। यदि सौभाग्य वश दोनो का सामञ्जस्य वन पडा तब तो सोने मे सुगन्ध उदाहरणतः—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि॥

सचमुच ऐसी पक्तियां कलात्मकता की प्रतिमूर्ति हैं।

सस्कृत और हिन्दी की विशिष्ट प्रगतियो को देखकर ऐसा मालूम होता है कि सस्कृत मध्यानुप्रास और समास तथा विभक्तियों की मधुरिमामयी योजना के कारण ही इतनी सगीतमय हो चुकी है कि उसे तुक की कमी नहीं खटकती; किन्तु हिन्दी मे ऐसे साधनो की कमी है और इसे तुक की अनिवार्य आवश्यकता सी दीखती है। उदाहरणतः—

सजा सुमनो के सौरभ हार
गूथते थे वे उपहार
अभी तो है ये नवल प्रवाल
नही छूटी तरु डाल,
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल।
—पंत— पल्लव।

इसमे सौन्दर्य का प्रमुख उपादान है तुकान्तता। जहाँ तुकान्तता न हो वैसी हिंदी कविता मे या तो सस्कृत-वर्णिक-वृत्तो की सी नियमित गति होनी चाहिये या अनायास धारा-प्रावाहिकता। किन्तु सस्कृत वृत्तो की सी गति हिन्दी के विश्लेषणात्मक होने से उसमें सुचारु रूप से आ ही नही सकती। अत यदि धाराप्रावाहिकता के साथ कलात्मक भावाभिव्यञ्जन इष्ट हो तो भिन्नतुकान्त कविता हिन्दी मे भी हो सकती है। भिन्नतुकान्त ही नही भिन्नमात्रिक भी।

उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें यदि धारा-प्रवाहिकता है तो उसकी वेदी पर हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा की बलि की गई है। यथा—

कल - मुरलि - निनादी लोभनीयांग - शोभी
अलिकुल-मति - लोपी - कुन्तली - कान्ति-शाली
अयि पुलकित-अंके ! आज लौं क्यों न आया
वह कलित - कपोलो - कान्त - आलाप-वाला !

इस पद्य के द्वारा हिंदी की विश्लेषणात्मक प्रकृति पर कितना घोर आघात पहुँच सकता है इसकी कल्पना सहृदय स्वयं कर सकेंगे। निष्कर्ष यह कि 'भाषा-सौकर्य-साधन' रूपी लक्ष्य को पूरा करने में 'प्रियप्रवास' असफल रहा है।

(ङ) संस्कृतमय भाषा-शैली

भूमिका के अध्ययन से पता चलता है कि हरिऔध' ने संस्कृत गर्भित भाषा के प्रयोग के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

(१) रामचरितमानस 'विनयपत्रिका और 'रामचन्द्रिका' से अधिक संस्कृतमयता 'प्रियप्रवास' मे नहीं है। अत यदि वे ग्रन्थ उपादेय हैं, तो यह भी है।

(२) वर्णिक वृत्तों के लिये संस्कृतमय भाषा का अपनाना अनिवार्य हो गया।

(३) प्रियप्रवास की संस्कृतमय शैली मे मेरी रुचि-विशेष' की परितृप्ति हुई।

(४) संस्कृत सारे भारत मे आदृत है, अत· यदि अन्य प्रान्तों में समादर होगा तो 'प्रियप्रवास'—जैसे संस्कृतनुमा ग्रन्थों का ही।

(५) यहाँ वालो (यू० पी० विहार आदि) को भी 'उच्च हिन्दी' से परिचय दिलाने के लिये ऐसे ही ग्रन्थो की आवश्यकता है।

इन तर्कों के सम्बन्ध में विशेष विवेचना अनपेक्ष्य है। फिर भी, 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' की शैली से 'प्रियप्रवास' की शैली की तुलना करना अप्रासंगिक होगा। प्रथम तो, उनमें संस्कृत के छन्द ही नहीं है; दूसरे, भाषा भी सामान्यतः टकसाली और चलती है, 'प्रियप्रवास' की-सी कृत्रिम नहीं। यदि कवि को संस्कृत वृत्तो के लिये सस्कृतमय पदावली का अपनाना अनिवार्य हो गया, तो यह कोई समाधान नहीं माना जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि 'छिद्रेष्वनर्था वहुलीभवन्ति'। यदि एक त्रुटि के सत्त्व के लिये दूसरी त्रुटि को आमन्त्रित किया जाय तो इससे प्रथम त्रुटि का परिमार्जन सम्भव नही। इस तरह का तर्क तो चक्रक दोष-दूषित (fallacy of vicious circle) माना जायगा। अब रही 'रुचिविशेष' की वात। सो तो, एक की 'रुचिविशेष' दूसरे की 'अरुचिविशेष' भी हो सकती है। 'रुचिविशेष' के आधार पर तो तर्क की तरणि टकरा कर चूर ही हो जाती है। कवि का एक तर्क यह है कि संस्कृत तो प्राय. सारे भारत की प्राचीन भाषा है अत. अन्य प्रान्तो मे सस्कृतमय शैली का समादर होगा, अर्थात् अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे सस्कृतमय हिन्दी का प्रचार होगा। यहाँ पर यह विचारना चाहिये कि जिसे हिन्दी मे सस्कृत का मजा लेना इष्ट होगा वह सस्कृत ही क्यो न पढ लेगा ? यदि उसे हिन्दी सीखना इष्ट होगा तो गुजराती, मराठी आदि प्रचलित बोलियो की कोटि मे आनेवाली सरल हिन्दी ही क्यो न सीखेगा ? क्या यह सम्भव है कि आज का गुजराती, मराठी आदि बोलनेवाला व्यक्ति जब हिन्दी की ओर प्रवृत्त होगा तो प्रथम-पाठ्य के रूप मे 'प्रियप्रवास' का अध्ययन करेगा ? क्या इस ओर उसकी भाषा की सस्कृत-मूलकता किसी काम आवेगी ? क्या आज तक अन्य

प्रान्तियों ने 'हरिऔध' की इस दुष्कल्पना और दुराशा की पूर्ति की है ? उनका अन्तिम तर्क यह है कि यहाँ के सरल-हिन्दी जानने वालों को भी 'उच्च हिन्दी' के बोध के लिये 'प्रियप्रवास' की उपयोगिता है। मानो सरल हिन्दी 'नीची' हिन्दी है ! कहाँ तो आज प्रेमचंद-जैसे महारथियों के सामने यह सवाल था कि किस प्रकार हमारी खड़ी हिन्दी प्रेम से झुककर दीन-हीन मजदूरों, अबोध किसानों और अज्ञानांधकार में पड़ी सामान्य जनता तक को अपनी अमृतमयी भेंट दे सके, और कहाँ यह अभिलाषा कि जो पहले से ही खड़ी हिन्दी है, उसके जूते में 'ऊँची ऐडी' (high heel) लगाकर उसे जनसाधारण की पहुँच के बाहर बना दिया जाय ! 'प्रियप्रवास' की भाषा किसी दशा में सर्व-सुलभ नहीं कही जा सकती।

संस्कृतमय शैली के अपनाने से इस ग्रन्थ में दो दुर्विशेषताएँ आगई हैं:—

(क) क्लिष्ट शब्दावली
(ख) संश्लिष्ट पदावली

यथा—

सद्वस्त्रा सदलङ्कृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी - वृद्ध - जनोपकार - निरता सच्छास्त्रचिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्यहृदया सत्प्रेमसपोषिता।
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजातिरत्नोपमा ॥ ४।८ ॥
सद्भावाश्रयता अचिन्त्यदृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना-कौशलमूलता अटलता न्यारी क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भूभागका ॥९।२३॥

किसी भी कविता का मुख्य उद्देश्य है 'प्रभाव की प्रेषणीयता' (communicability) और इस उद्देश्य का मुख्य साधन है प्रस

गुण से युक्त प्राञ्जल भाषा। किन्तु 'प्रियप्रवास', में प्रायः प्रसाद का अवसाद ही दीख पडता है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी स्थल स्थल पर कवि की प्रतिभा ने संस्कृतवृत्तों के नियंत्रण में रहते हुए भी सुन्दर से सुन्दर और सरल पदों की योजना की है। उदाहरणतः—

सरस सुन्दर सावन मास था
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती वहुधा जिनमें रही
छविवती उड़ती वक-मालिका। १।२

अथवा –

सव नभतल-तारे जो उगे दीखते हैं
यह कुछ ठिठके-से सोच में क्यों पड़े हैं।
व्रज-दुख लख के ही क्या हुए हैं दुखारी
कुछ व्यथित वने-से या हमें देखते हैं। ४।४१

कई स्थलों पर अनुप्रास की बड़ी सरस और सङ्गीतमय योजना द्वारा तुकान्तता की त्रुटि को दूर किया गया है:—जैसे—

कमल-लोचन क्या कल आगये
पलट क्या कु-कपाल-क्रिया गई।
किस लिये व्रज कानन में उठी
मुरलिका नलिका उर-वालिका॥
किस तपोवल से किस काल में
सच वता मुरली कल-नादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली
मधुरता, मृदुता मनहारिता।
इत्यादि १५।५८-५९

अथवा—

कल-कुवलय के-से नेत्रवाले रसीले
वररचित फबीले वस्त्रपीताभशोभी
गुरुगुणगरबीले मञ्जुभाषी सजीले
वह परम छबीले लाड़िले नंद जी के॥

४।२

अथवा—

विपुल-ललित-लीला-धाम आमोद-प्याले।
सकल कलितक्रीड़ा औ कला मे निराले॥
अनुपम वनमाला को गले बीच डाले।
कब उमग मिलेगे लोकलावण्यवाले॥

१४।९०

'प्रियप्रवास' ही एक मात्र काव्य 'हरिऔध' की संस्कृतमय शैली और रुचि-विशेष का परिचय देने को विद्यमान रहे—यह सतो की बात है। क्योकि 'प्रियप्रवास' की शैली 'हरिऔध' की शैली का प्रतिनिधित्व भी नही करती। इस शैली का संशोधन उन्होने कालक्रम से स्वय किया— क्रियात्मक रूप से। 'चुभते चौपदे' या 'चोखे चौपदे' इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। 'देववाला' तो पराकाष्ठा है। आज कल पत्र-पत्रिकाओ मे निकलने वाले पद्य भी अपेक्षाकृत बहुत सरल और हिन्दी की प्रतिभा को सतु[illegible] करनेवाले छदो मे हुआ करते हैं। उदाहरणत.– 'सुधा' मे कु[illegible] समय पहले प्रकाशित इन पद्यो को देखे —

वायु के मिस भर भर कर आह
ओस मिस बहा नयन जलधार
इधर रोती रहती है रात
छिन गया मणिमुक्ता का हार!

उधर रवि आ पसार कर कांत
उषा का करता है शृंगार
प्रकृति है कैसी करुणामूर्ति
देख लो कैसा है संसार !

यदि—

कवि अनूठे कलाम के बल से
हैं बड़े ही कमाल कर देते।
वेधने के लिये कलेजे को
हैं कलेजा निकाल धर देते।—

तो इन उपरिलिखित सरल पद्यों की ही बदौलत, न कि 'प्रियप्रवास' के संस्कृतगर्भित दुरूह पद्यों की।*

(च) उनकी विशिष्ट शैली के विशिष्ट और संकीर्ण स्थल

'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' की शैली में कुछ विशेषताएँ और विचित्रताएँ आहित की हैं और उनका समाधान यत्नपूर्वक अपनी भूमिका में किया है। उनका मत है कि—

(१) 'लसना', 'विलसना', 'बगरना', 'भाखना'—इत्यादि ब्रजभाषागत अथवा खड़ी हिन्दी में अप्रयुक्त क्रियाओं के व्यवहार से 'खड़ी बोली का पद्यभाण्डार सुसम्पन्न और ललित होने के स्थान पर क्षतिग्रस्त और असुन्दर न होगा। और जहाँ तक उपयुक्त और मनोहर शब्द ब्रजभाषा में मिलें उनके लेने में संकोच नहीं करना चाहिये।' किन्तु प्रथम तो यह कि खड़ी हिन्दी में ब्रजभाषा के क्रियापदों का प्रयोग खड़ी हिन्दी के व्यक्तित्व को मानों उससे छीन-सा लेता है, क्योंकि क्रियापदों का विशिष्ट रूप

* 'हरिऔध' की नूतनतम रचना — वैदेही वनवास [illegible] (जो [illegible] पुस्तक के प्रेस में जाने पर [illegible] हुई है) [illegible] संस्कृतगर्भित शैली का क्रियात्मक प्रतिरोध है।

भी खड़ीबोली को विशिष्ट रूप देने का एक मुख्य साधन है। दूसरे, माना कि व्रजभाषा के क्रियापद लालित्य और कोमलता की दृष्टि से समाविष्ट किये जायँ; तो भी ऐसे समावेश यत्रतत्र ही किये जा सकते हैं न कि अप्रतिबन्ध रूप से। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना होगा कि क्या 'हरिऔध' ने जहाँ ऐसे क्रियापदों के उपयोग किये हैं वहाँ वे पद सौन्दर्यवृद्धि में सहायक हुए हैं अथवा नहीं। ऐसी दशा में यह ज्ञात होगा कि बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ वे क्रियापद उपयुक्त हैं। यथा—

बिलसती बहुधा जिनमें रही

दमकती दुरती घन अंक में

लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी

निरख के निज आनन देखता
—इत्यादि।

फिर भी इन स्थलों में भी खड़ी हिन्दी के क्रियापदों को आसानी से स्थानापन्न किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'बिलसती रही' ('बिलसती थी' के बदले) का रूप खटकता है।

किन्तु व्रजभाषा के क्रियापदों ने कई स्थलों में कर्कशता और ग्राम्यता का भी उत्पादन किया है—यथा—

ऊधो से यों सदुख जब थे भाखते गोप बातें।१२।१

व्रजविभूषण - कीर्ति बखानते १२। १०१

कभी उन्हें था जल बीच बोरता १३।७०

इन पंक्तियों में 'बोलते' आदि ललित पदों के स्थान पर खामखाह 'भाखते' आदि की योजना कर्णकटु प्रतीत होती है।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात को प्रमाणित कर देंगी कि क्रियापदों के साथ अनुचित स्वतंत्रता लेने से कवि की कविता में कितनी विकृति आ गई है :—

जी चाहे तो शिखर पर जा क्रीड़ना मंदिरों के ६।४९

विसूरती आ पहुँचीं व्रजेश्वरी ११।३२

न नाग काली तब से दिखा पड़ा ११।४८

उन्हें वहीं से दिखला पड़ा वहीं १३।५०

निपात के मेदिनि में गिरा दिया १३।६५

विदार देता शिर था प्रहार से १३।७२

दृगों उरों को दहनी अतीव थी १६।१७

विना किसी असाधारण कारण के खड़ी बोली में ऐसी क्रियाओं का प्रयोग सम्भवत क्षम्य नहीं माना जा सकता।

(२) 'हरिऔध' का विचार है कि हलन्त वर्णों को सस्वर रूप देना हिन्दी की गतिविधि के अनुकूल है। इसलिये 'जिस्मे' 'उस्का' आदि न लिख कर 'जिसमे' 'उसका' आदि लिखना चाहिये। 'महान्' 'विद्वान्' आदि पदों को हलन्त-रहित रूप देना

चाहिये। उनके इस विचार से हमें पूर्णतया सहमत होना चाहिये कि हिन्दी की प्रचलित लेखप्रणाली इस दिशा मे 'सुसंगत, समीचीन और बोधगम्य' है तथा 'हिन्दी भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति यथासम्भव संयुक्ताक्षरत्व से बच रहने की है'। 'हरिऔध' ने कही कही 'संकीर्ण' स्थलो पर 'रतन' (रत्न) 'मरम' (मर्म) 'तृणावरतीय' (तृणावर्तीय) आदि का भी सस्वर प्रयोग किया है। किन्तु ऐसे प्रयोग नहीं के बराबर हैं और उन्होने सिद्धान्तत: शब्दो के मध्यंगत हलन्तो का ज्यो का त्यो उसके सस्कृत रूप मे प्रयोग किया है—यथा दर्शक, मूर्त्ति आदि। उनमे छन्दो की वजह से विकृति नही आने पाई है। एकाध स्थल पर छन्द की दृष्टि से सस्वर पद को हलन्त करके विकृत किया गया है। यथा—

सुत—श्वफल्क समागत हैं हुए। २।१४

है चन्द्रकान्त-मणि मण्डित-क्रीट कैसा १४।१२७

(३) विशेषणो के प्रयोग मे कवि ने हिन्दी रूपो के साथ उनके सस्कृत लिगदर्शी रूपो का भी प्रचुरमात्रा मे प्रयोग किया है। यथा—

बाते बड़ी-मधुर औ अति ही मनोज्ञा
नाना मनोरम रहस्यमयी अनूठी।
जो हैं प्रसूत भवदीय मुखाब्ज द्वारा
हैं वांछनीय वह सर्व सुखेच्छुको की॥ १२।७३

यहाँ एक ही विशेष्य 'बाते' (स्त्रीलिंग) के लिये कुछ विशेषण तो टाप्-प्रत्ययान्त प्रयुक्त किये गए हैं और कुछ हिन्दी के ढंग से। हमारा अनुमान है कि ऐसे प्रयोगो के वैकल्पिकत्व का एक ही कारण है—वर्णिक छन्द का कठोर अनुशासन। वर्ना कोई

कारण नहीं कि विशेषणों की ऐसी खिचड़ी पका कर हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रगति को आघात पहुँचाया जाय। समूचे ग्रन्थ में विशेषणों के ये वैकल्पिक प्रयोग भाषा की कृत्रिमता और परकीयता के द्योतक हैं। अन्य कवियों के हवाले भले ही विरल प्रयोगों को क्षम्य समझने में सहायक बनें, किन्तु जब ग्रन्थ का ग्रन्थ निरंकुश रूप से प्रत्ययान्त विशेषणों से भरा पड़ा है, तो इसका समर्थन कठिन प्रतीत होता है।

(४) कवि ने 'जायेंगे—जाऐंगे' 'वैसिही—वैसी ही' आदि शब्दों के वैकल्पिक प्रयोगों के सम्बन्ध में कहा है कि वे केवल संकीर्ण अवसरों पर हुए हैं। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि ऐसे संकीर्ण अवसर पद पद पर आते हैं तो उनके संकीर्ण होने में सन्देह होने लगता है।

उदाहरण :—

सकल कामिनि की कलकंठता । २।२३

सब नहिं जिनकी हैं बानता बूझ पाते ५।५३

यह अवनि फटेगी औ समा जाऊँगी मैं ५।५७

आभीरों का एक दल नया वां उसी काल आया १०।१

यो यों आ न अधिकतर थे ये चले नन्द आने। ६।४७

भोली भाली सुवदनि गई सुन्दरी बालिकायें ४।३

जो बालाएँ विरहदव से दग्धिता हो रही हैं १४।..

छिपा पती है जिस ओर राजता १५।५३

महामना श्यामघना लुभावना १५।९५
—इत्यादि।

ऐसे सैकड़ों अशुद्ध पदों के प्रयोग किये गए हैं जिनमें तोड़-मरोड़ कहीं कहीं तो अकारण किये गए हैं, किन्तु मुख्यांश में केवल संस्कृत छन्दों के वर्णिक रूप की आवश्यकता की पूर्ति के लिये।

(५) 'रमणीय' 'श्रवण' आदि के 'रमनीय' आदि दन्त्यनकारान्त रूपों का 'हरिऔध' ने विरोध किया है क्योंकि ऐसा करने से—

(क) प्रचलित गद्यभाषा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा;

(ख) इसमें जो संस्कृत का यत्किंचित रंग है वह न रहता और भद्दापन एवं अमनोहारित्व आ जाता। किन्तु साथ ही साथ इन्होंने 'छन-क्षण' 'प्रयाण-पयान' आदि का समर्थन करते हुए यह कहा है कि 'रस और अवसर के अनुसरण' से कहीं कहीं ऐसे प्रयोग उचित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्त्तमान खड़ी हिन्दी कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति है संस्कृत के अविकृत रूपों की ओर, किन्तु कवियों को रस-निर्वाह की दृष्टि से छोटे मोटे परिवर्त्तन का पूर्ण अधिकार है। जैसे—नवयुग के कवि पंत ने लिखा है—

विश्ववाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रुकन!—इत्यादि।

'हरिऔध' ने भी—

रोना महा अशुभ जान पयान-वेला
आँसू न ढाल सकती निजनेत्र में थी।
रोये बिना न छन भी मन मानता था
हूबी महान द्विविधा जन-मण्डली थी। ५।१९

—इन-जैसे पद्यों मे जो दन्त्यनकारान्त प्रयोग किया गया है ह पदलालित्य और रस-सामंजस्य के विचार से न्याय्य है।

(६) संस्कृत के ढंग के वृत्तो का हिन्दी मे प्रयोग करने से, अथवा कवि के रुचि-विशेष-संमत होने से, एक विचित्र प्रकार का विधेय वाक्यांश लिखने की सरणि-सी चल पड़ी है 'प्रियप्रवास' —वह है उर्दू के ढंग का पिछमुँहा षष्ठी-तत्पुरुष। उदाहरणत.—

इस सओज-सुभाषण-श्याम से
बहु प्रबोधित हो जनमंडली
गृह गई पढ़ मंत्र - सयत्नता
लग गई गिरि ओर प्रयाण मे ॥ १२।५०

'श्याम-सुभाषण' अथवा 'सयत्नता—मंत्र' को इस तरह 'दस्त्-ए-अदब'—जैसा विपरीत समास का रूप देना हिन्दी की प्रकृति के प्रति अत्याचार करना है। ऐसी कतिपय पक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें इस तरह समास का सर्वनाश किया गया हो :—

कड़े पदाघात-बलिष्ठवाजि से १२।६०

अपार होता उसको विनोद था
सदैव उत्पीडन-प्राणिपुञ्ज से ॥ १३।६८

इस छितितल मे ए मूर्ति-उत्फुल्लता हैं १५।२९

कवि को पद्य-रचना मे पदव्यत्यय का अधिकार है किन्तु किसी सीमा तक!

(७) इस संदर्भ मे हमे कुछ ऐसी पक्तियाँ उद्धृत करना इष्ट है जिनमें हमें कुछ खटकने वाले पद मालूम हुए हैं—

गठित-पाहन-पुत्तलिका यथा १।९७

—('पाहन' का प्रयोग खड़ी हिन्दी में)

द्युतिमती इतनी अब थी नहीं १।३७

—('द्युतिमती' के स्थान में 'दुतिमती')

कलित कीर्ति अलापित थी कहीं २।८

—('आलापित' के बदले 'अलापित')

गरल अमृत अर्भक को हुआ २।३५

—('अमृत' शब्द का चतुर्मात्रिक प्रयोग अशुद्ध है)

खलपना पशुपालक-व्योम का २।४८

—('खलपना'—'खलत्व' के लिये)

आ जावेंगे विवि दिवस में आपके लाल दोनों ५।२९

—('दो' के लिये 'विवि')

हुई तभी से यमुनातिनिर्मला ११।४८

—(संस्कृत की-सी सन्धि)

सचेष्ट होते भर वे क्षणैक थे ११।९३

—(क्षणैक = क्षण + एक)

सलिल विन्दु गिरा सुठि अंक में १२।८

—('सुठि' का प्रयोग खड़ी बोली में)

सबल विज्जु-प्रकोप-प्रमाद से १२।२८

—('विज्जु' = विद्युत्)

सुसेतता, रक्तिमता अनूप में १३।४

—(सेतता = श्वेतता)

अनन्तरोद्विग्न मलीन खिन्न हो
जनेक ने यों हरिबन्धु से कहा १३।१३

—(सस्कृतनुमा सन्धियां)

कैसे प्यारे कुँवर अकले ब्याहने सैकड़ों को १३।३४

—(अकले = अकेले)

आर्द्रौ हुआ सतत साथ दिगन्तव्यापी १३।९८
—('आर्द्रौ' सप्तम्यन्त का प्रयोग)

निज मृदुल कलेजे में शिला क्यों लगाऊँ १५।१२३
—(सम्भवतः लोकोक्ति का यह संस्कार अनुचित है)।

—इत्यादि।

इन पंक्तियों पर विचार करने से इनकी त्रुटियों का मुख्य कारण मालूम होता है हिन्दी में ऐसे छंदों का सतत प्रयोग जिन्होंने सदियों से संश्लेषणात्मक ढंग से अपने को व्यक्त किया है और जो विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को लेकर आगे बढ़ने वाली हिन्दी के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

(८) अन्त में एक बात और। आचार्य 'हरिऔध' ने मैथिलीशरण गुप्त की—

निदाघज्वाला से विचलित हुआ चातक अभी—जैसी पंक्तियों का उद्धरण देकर यह बताया है कि यद्यपि संस्कृत में संयुक्ताद्य अक्षर का दीर्घ उच्चारण होता है किन्तु हिन्दी के क्षेत्र में ऐसा करना न्यायसंगत नहीं है क्योंकि हमने कालक्रम से उच्चारण का ढंग ही बदल दिया है। कवि ने इस पर पूरा ध्यान रक्खा है कि इस तरह के संयुक्ताक्षर के पहले के ह्रस्व को दीर्घरूप में उच्चारण करने के अवसर यथासम्भव कम हों। यथा—

लख अलौकिक स्फूर्ति [illegible]
चकित स्तम्भित लोक समस्त थे। [illegible]

—इन पंक्तियों में [illegible] से [illegible] और [illegible] का उच्चारण दीर्घ होना चाहिये था किन्तु हरिऔध ने ह्रस्व ही रक्खा है पर थोड़े ऐसे भी स्थल हैं जहाँ कवि की [illegible] प्रयोगों से बचने की चेष्टा सफल नहीं हुई है—यथा—

समुचित स्थल में करने लगे
सकल की उपयुक्त सहायता। १२।५१

यहाँ पर 'त' का उच्चारण द्विमात्रिक है।

पिछले पृष्ठों मे 'प्रियप्रवास' की शैली मे जो त्रुटियाँ प्रदर्शित की गई हैं उनके दोष का भागी प्रधानतः 'हरिऔध' का वर्णिक वृत्तों मे महाकाव्य लिखने और इस दिशा मे पथ-प्रदर्शक बनने का निश्चय है। इस निश्चय के साथ शैलीगत त्रुटियों का अन्योन्याश्रय-संबंध सा है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये—और यह स्मरण कवि ने स्वयं भी हमें दिलाया है—कि "कविकर्म बहुत ही दुरूह है" क्योंकि छन्दों के नियम मानो "उसको हाथ पाँव बाँध देते हैं" और उसे संकीर्ण मार्ग से चलने को बाध्य करते हैं। छन्दों के नियन्त्रण के अलावे प्रतिभा भी सर्वदा सजग हो यह बात नहीं। कभी कभी तो "सौ सौ पलटा खाने पर भी" तत्काल भाव और भाषा के सुन्दर स्फुरण का अभाव ही रहेगा। यदि कालिदास-जैसे विश्वकवि ने भी 'त्रियम्बकं सयमिन ददर्श' में मात्रा की पूर्ति के लिये शब्द के तोड़मरोड़ किये तो सामान्य कवियो के लिये यह अनिवार्य ही है। कहा भी है—'अपि माप मप कुर्याच्छन्दोभग न कारयेत्।'

'प्रियप्रवास' के बाद की रचनाओ मे 'हरिऔध' ने सस्कृत वृत्तों-वाली शैली का परित्याग कर दिया है—यह भी सभवतः एक अऋजु संकेत है कि उन्हे स्वय चाहे अपनी बीहड़ रचना पर मल्ल-युद्ध-विजय का सा आनन्द भले ही मिला हो, किन्तु वे ऐसे युद्ध और ऐसी विजय को दुहराना नही चाहते। उनकी वर्त्तमान फुटकल कविताएँ प्राय चौपदों की शैली का अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिये 'विश्वमित्र' के अक्तूबर, १९३९ के अक मे यह कविता उद्धृत की जाती है—

महाकवि 'हरिऔध'

का

'प्रिय-प्रवास'

—:※:—

लेखक

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० (त्रिनय)

पटना कालिज, पटना

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

[संस्करण] १९४० [मूल्य १)

छिन रहे हैं अब मुँह के कौर
गले पर चलती है तलवार।
कुछ कहे खिंच जाती है जीभ,
वृथा ही लुटते हैं घर वार॥
जिये जिनका आनन अवलोक,
आज वे खींच रहे हैं खाल।
वलाये लीं जिनकी दिल खोल
आज वे लाल बने हैं काल॥
पसीना जिनका गिरा विलोक
गिरायी गई लहू की बूंद।
वही मन आँख निकलती देख
आँख अपनी लेते हैं मूंद॥
रहे जो जीवन के आधार
ढग उनका करता है दंग।
कुछ समझ में आता ही नहीं
समय ने बदला कैसा रंग॥

'प्रियप्रवास 'रसकलस' चुभते-चौपदे' ठेठ हिन्दी का ठाट —ये चारो अपनी अलग विशेषताएं रखते हुए 'हरिऔध' की शैली की चतुर्मुखी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। इस चौराहे पर जो जैसी राह पसंद करे उसे उसी राह से जाने की स्वतन्त्रता मिल सकेगी।

(६) शैली के उत्कर्ष

'संस्कृत-मय भाषा शैली' शीर्षक मे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा
चुके हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वर्णिकवृत्तों और संस्कृतमय
ौली के रहते हुए भी सुन्दर पद्य की कमी प्रियप्रवास' मे नही है।
ीचे की पंक्तियो मे इस विषय की कुछ विस्तृत विवेचन की

जायगी। किसी भी काव्यशैली के उत्कर्षविधान के लिये निम्न-लिखित उपादानों की आवश्यकता है:—

(१) प्रसाद गुण अर्थात् सरलता और बोधगम्यता;
(२) भाषा की भावानुरूपता;
(३) पदलालित्य और अलंकारों का समुचित समावेश,
(४) प्रतिपाद्य वस्तु की आकर्षणशीलता (unity of interest),
(५) कल्पना की उड़ान।

(१) सामूहिक दृष्टि से प्रसाद गुण और प्राञ्जलता से शून्य होने पर भी सरल और बोधगम्य पद्यों के नमूने 'प्रियप्रवास' में भरे पड़े हैं। यथा—

प्रियपति ! वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्रतारा कहाँ है॥ ७।११

अथवा—

यदपि ऊधव के गृहत्याग से
परिसमाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही
हृदयमंदिर मे हरि-मित्र के॥ १०।९७ आदि।

(२) कवि की कृति की कलात्मकता का परिचय मुख्यत उसकी भाषा और भावो के सामञ्जस्य से मिलता है। जैसा रस हो, जैसे भाव हो, उन्ही के अनुरूप पद योजना होना उचित है। भीषण वर्णन मे कोमल अक्षरो का प्रयोग अथवा शृङ्गारिक वर्णन में परुष अक्षरो का प्रयोग—दोनो ही अनुचित हैं। इसके अतिरिक्त सफल कलाकार वही समझा जायगा जिसके पदो के विन्यास से ही

उनके भावो की ध्वनि निकल पड़े । उदाहरणतः—जब टेनिसन (Tennyson) निम्नलिखित पंक्तियो मे गिरजेघर की वैवाहिक मंगलघंटी बजने का वर्णन करता है—

So merrily rang the bells and merrily ring the bells,
And merrily rang the bells, and they were wed.

—तो ललित पद्यों की तीन बार आवृत्ति करने से मानो उन्ही मे से घंटी की सतत मधुर ध्वनि कानो को सुन पड़ने लगती है। उसी प्रकार—जब विद्यापति गाता है कि—

जहँ जहँ पग जुग धरई
तहँ तहँ सरुरुह झरई—

उस समय इन चरणो के विन्यास मे मानो चरणो के विन्यास की नियमित ध्वनि-सी सुनाई देती है। अथवा—जब सूरदास वर्णन करते हैं कि—

अटपटाइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पैयाँ,—

उस समय 'अटपटाइ' 'डगमगाइ' आदि अनुकरणात्मक शब्दो के प्रयोग से भाव की अभिव्यक्ति अनायास ही हो जाती है। 'प्रियप्रवास' मे भी 'हरिऔध' ने प्रसगानुसार अपनी भाषा को सँवारा है। यथा—

मथित चालित ताडित हो महा
अति प्रचड प्रभंजन पुंज से
जलद के दल के दल आ रहे
घुमडते घिरते व्रज घेरते। १०।२०

'इन पंक्तियो मे' 'प्रचंड प्रभंजन के रह रह कर आघातो प्रेरित होकर जलदपटलो के दल के दल आने और घुमड घुमड कर घिरने के वर्णन के लिये जिस छन्द की, जिन वर्णों की और

जैसे अनुप्रासों की योजना की गई है उनमें भाव का आविर्भाव अनायास ही बन आता है। उसी प्रकार निम्नलिखित पद्य की कोमलता और मनोहारिता एवं भाषा की भावानुरूपता का कायल कौन सहृदय व्यक्ति नहीं होगा ?—

> लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मन्द डोलीं,
> प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं,
> सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं,
> कूलों कुंजों कुसुमित वनों क्यारियों ज्योति फैली ॥
>
> —५।२

भाषा की भावानुरूपता का एक विशिष्ट निदर्शन हम स्थलस्थल पर 'हरिऔध' के छन्दों के परिवर्त्तन में भी पाते हैं। उदाहरणतः—चतुर्थसर्ग के आरंभ में तीन द्रुतविलम्बितों के बाद पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं और फिर द्रुतविलम्बितों का सिलसिला जारी हो गया है। वहाँ शार्दूलविक्रीडितों की विशेष उपयुक्तता अनायास हृदयंगम हो जाती है, क्योंकि वे राधा के चरित्र का एक संक्षिप्त किन्तु पूर्ण चित्र आँखों के सामने उपस्थित कर देते हैं। (द्रुतविलम्बितों के बीच इस पद्य-पंचक की वही सुंदरता है जो किसी दिग्दिगन्तविस्तृत महासागर में एक छोटे से शस्य-श्यामल द्वीप की।) उसी प्रकार त्रयोदश सर्ग के अंत में बहुत-सी मालिनियों के बाद का एकमात्र द्रुतविलंबित उनमें गुम्फित व्यथा-कथा के अवसान को सूचित करने के साथ ही साथ यह भी व्यञ्जित करता है कि वह व्यथा-कथा और वह सर्ग—दोनों अति शीघ्रता से और आकस्मिक रूप से अन्त हो जाते हैं तथा वहाँ की एकत्रित जनमंडली भी विसर्जित होती है—

> कथन यों करते व्रज की व्यथा
> गगन - मंडल लोहित हो गया

इसलिये बुध ऊधव को लिये
सकल गोप गए निज गेह को॥ १३।११९

मालिनी से द्रुतविलंबित छोटा छन्द है. मालिनी का चरण पन्द्रह वर्णों का है, और द्रुतविलंबित का केवल बारह वर्णों का। उधर अस्ताचल की ओट मे छिपने के पहले सहस्ररश्मि की भी किरणे मन्द पड़ ही जाती हैं। छन्दो की गति की कलात्मकता के उदाहरण स्वरूप अन्य कई स्थल रसज्ञ और कलावित् पाठक स्वयं ढूँढ़ निकाल सकेंगे। यथा—षष्ठ सर्ग में जो प्रतिपाद्यवस्तु के तीन मुख्य भाग हैं—अवतरण; यशोदा की विरहजनित उत्कंठा; चिन्तामग्न राधा की पवन के प्रति प्रलापोक्ति, इन तीनो के लिये बदल बदल कर छन्दो का उपयोग किया गया है।

(३) बिना अलंकारो के कविता कामिनी की कमनीयता नहीं निखरती, अतः कवि को इस बात की चेष्टा सदैव रहती है कि उसकी भाषा व्यवस्थित और विभूषित हो। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार अलंकारो के अनुचित प्रयोग से भावो का गला रुँध जाता है और अत्यलंकृत कविता केवल शब्दाडंबर-मात्र रह जाती है। रीति काल के कवियो की सामान्य प्रगति इसी तरह की थी। किन्तु वर्तमान युग भावनाओ को प्राधान्य देने लगा है और 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' भी भावना-प्रधान काव्य है, शब्द-सौंदर्य-प्रधान नहीं। शब्द-सौंदर्यप्रधानता का उदाहरण पद्माकर से—

मल्लिकान मञ्जुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद मंद मारुत मुहीम मनसा की है।
कहै पद्माकर त्यौं नादत नदीन नित,
नागरि नवेलिन की नजरि निसा की है।

दौरत दरेर देत दादुर नु दुंदै दीह
दामिनी दमकनि दिसान में दसा की है।

वदलनि वूदन विलोकै वगुलान वाग,
वगलन वेलिन वहार वरखा की है।

यहाँ मल्लिका की मंजुलता, मलिंद की मत्तता, मारुत की मदव
मनसा की मुहीम, नदी का नाद, नवेली की नजर दादुर के दुरं
दामिनी की दमक—सर्वत्र कवि का प्रयास अनुप्रास के ही अनु
संधान मे, शब्दाडम्बर रूपी अंबर के ही परिधान में प्रवृत्त दीख
है। इनकी कविता भावों की भूखी है। एक और उदाहरण
भूषण से—

कुन्द कहा, पयवृन्द कहा, अरु चन्द कहा, सरजा जस आगे।
भूषन, भानु कृसानु कहाऽव खुमान प्रताप महीतल पागे॥
राम कहा द्विजराम कहा बलराम कहा रन मैं अनुरागे।
वाज कहा मृगराज कहा अति साहस मे सिवराज के आगे॥
–शिवराज भूषण (हि० सा० स०) पृ० ३

इसमें अनुप्रास के प्रेम से प्रेरित होकर कुन्द पयवृन्द और चंद को
एक सिलसिले मे विठाने तक को तो क्षम्य समझा जा सकता है, किन्
'सिवराज' की एक ही साँस मे 'मृगराज' से तुलना करते हुए वाज
से भी उनका मिलान करना हास्यास्पद (ridiculous) मालूम पड़
है। पर भूषण की अनुप्रासतृष्णा तुष्ट होने पर फिर और कु
खटकती ही नही। वाज-मृगराज-सिवराज—क़ाफ़िया काफी तौर से
वैठ गया। अब चाहिये ही क्या ?

हरिऔध' ने इस प्रवृत्ति के विपरीत हृदयगत भावों के विश्लेष
और उनके निर्वाह को मुख्य समझा है न कि शब्द-विच्छित्ति को।

यथा—

पट हटा मुख के मुखकञ्ज की
विकचता [illegible]

विवश-सी तव थीं फिर देखती
सरलता, मृदुता, सुकुमारता। ३।३१

इस पद्य में रूपक और अनुप्रास के साथ साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का कैसा सुखद संश्लेषण किया गया है!

विकलता लख के व्रजदेवि की
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के
नयन से गिरता वहु वारि था। ३।८७

यहाँ उत्प्रेक्षालंकार का चमत्कार 'मानो' आदि वाचकपदों के विना भी हृदयगमनीय है। निम्नांकित पद भी उत्प्रेक्षा का अच्छा नमूना है।—

लस रही लहरें रसमूल थीं
सव सरोवर के कल अंक में
प्रकृति के कर थे लिखते मनों
कल-कथा कमनीय-ललामता॥

श्लेषगर्भित रूपक का एक सुन्दर और सरस उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अत्युज्ज्वला पहन तारक - मुक्तमाला
दिव्याम्बरा वन अलौकिक कौमुदी से
भावों-भरी परम मुग्धकरी हुई थीं
राका-कलाकर-मुखी रजनी-पुरन्ध्री। १५।८३

'रजनी' और पुरन्ध्री का परस्पर आरोप अत्यन्त ही क[illegible]न्वित ढंग से निभाया गया है। इसी प्रकार—

विलखित उर में है जो सदा देवता सौ
वह निज उर में है ठौर भी क्यों न देगा

नित वह कलपाता है मुझे काल हो क्यों
जिस बिन कल पाते हैं नहीं प्राण मेरे ॥ १५।११८

इन पंक्तियों मे सभग श्लेष का उत्तम दृष्टान्त है जिसमें दोनों अर्थ सुगमता से व्यक्त हो जाते हैं।

नीचे दिये गये उद्धरण हरिऔध' के और और अलकारों के समुचित समावेश का कुछ परिचय स्थालीपुलाक-न्याय' से दे सकेंगे:—

उपमा :—

ककुभशोभित गोरज बीच से
निकलते ब्रजवल्लभ यों लसे
कदन ज्यों करके दिशिकालिमा
विलसता नभ मे नलिनीश है। ११५

अथवा—

नवप्रभा - परमोज्ज्वल - लीक - सी
गतिमती - कुटिला - फणिनी - समा
दमकती दुरती घन अंक में
विपुलकेलिकला - खनि दामिनी। १२।४

इस पिछले पद्य मे 'समासोक्ति के भी लक्षण हैं, क्योंकि दामिनी में कामिनी के व्यवहार का भी समारोप किया जा सकता है। 'दामिनी' का अर्थ 'दाम अर्थात 'हार' के आधार पर 'हारवती' करने मे श्लेष का भी अनुप्राणन आ जाता है। वर्णन में जो सजीवता और प्राकृतिकता है उसकी तो बात ही अलग है।

निम्नोद्धृत दो पद्य काव्यलिंग के सुंदर उदाहरण हैं :—

मृतकप्राय हुई तृणराजि भी
सलिल मे फिर जीवित हो गई।

फिर सुजीवन जीवन को मिला
बुध न जीवन क्यों उसको कहें ॥
१२।१३

रसमयी लख वस्तु असंख्य को
सरसता लख भूतल - व्यापिनी
समझ है पड़ता बरसात में
उदक का रस नाम यथार्थ है ॥
१२।१५

रूपक का एक अन्य उदाहरण नीचे दिया जाता है—

व्रजधरा यक बार इन्हीं दिनों
पतित थी दुखवारिधि-में हुई।
पर उसे अवलम्बन था मिला
व्रज-विभूषण के भुज-पोत का ॥
१२।१७

जिस प्रकार तुलसी को लम्बे लम्बे रूपकों को प्रस्तुत करना इष्ट था उसी प्रकार कभी कभी 'प्रियप्रवास' में भी हम पाते हैं। यथा—दशम सर्ग में यशोदा कृष्ण के वियोग में अतीत सुखद स्मृतियों की कल्पना करती है—

ऊधो मेरा हृदय तल था एक उद्यान न्यारा
शोभा देतीं अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं
प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे ॥ [illegible] ॥

सच्चिन्ता की सरस-[illegible] [illegible] वापिका [illegible]
लोनी लोनी नवल [illegible] [illegible] [illegible]
धीरे धीरे मधुर [illegible] [illegible] [illegible]
सद्वांछा के विहग [illegible] मंजु-भाषी बड़े [illegible] [illegible]